सिद्धयोग

वर्ष-२६ : अंक- १० जनवरी १९९५

संस्थापक:
योग योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

प्रकाशक :
श्री देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक
श्री 'दिव्य'

जनवरी
1994

इस अंक में पढ़िए

लेख लेखक पृष्ठ

- योगस्थः कुरु कर्माणि (प्रार्थना) 1
- योगी श्री नारायणदासजी 2
- आचरण की त्रिवणी (सम्पादकीय) 4
- रमता जोगी बहता पानी —रमताराम की डायरी से 7
- पंचकोश और योग-साधना —आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम० ए० 9
- नाड़ी संचालन —श्री चन्द्रमोहनजी महाराज 17
- योग शास्त्र में मन का विश्राम —श्री दर्शनानन्द 23
- सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् 24
- सब जगह मौजूद है पर नज़र आता नहीं —डा० श्यामप्रसाद शर्मा 25
- साधना काल के मेरे अनुभव —श्री ब्रह्मलीन स्वामी मुक्तानन्द 27
- पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् 31

वार्षिक मूल्य 55 रुपया। एक अंक का मूल्य 6 रुपया
द्विवार्षिक मूल्य 100 रु०। आजीवन मूल्य 551 रु०।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २६ अङ्क १०	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विरक्तो, मुक्ति माप्नोति सद्यः । तत्प्राप्त्यर्थं बहुविलदं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥	जनवरी १६६४

श्रीकृष्ण ने कहा :—

॥ योगस्थः कुरु कर्माणि ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

—गीता 47-48

अर्थात्

तेरा अधिकार स्वधर्मरूप कर्म करने में ही है, कर्मफल में नहीं । तू कर्मफल का हेतु कभी न हो और कर्तव्य न करने में भी तेरी आसक्ति न हो ।

अर्थात्

हे अर्जुन ! योग में स्थित होकर सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धि रखते हुए फल की आसक्ति को त्याग कर स्वधर्मरूप कर्म का आचरण कर । मन का ऐसा समभाव ही योग कहलाता है ।

योगी श्री नारायणदास जी

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

भाई नारायणदास जी का जन्म अमृतसर के एक पवित्र ब्राह्मण-कुल में हुआ था। ब्राह्मण-कुल में जन्म होने के कारण इनके विचार पहिले तो शुद्ध-सनातन-धर्मी ही थे, किन्तु उस समय आर्य समाज का प्रचार जोरों पर था। ज्यों-ज्यों यह आर्य समाज के प्रचारकों के सम्पर्क में आये, त्यों-त्यों यह भी उन्हीं विचारों में प्रवाहित होते चले गये। शनैः-शनैः इनकी सन्ध्या-उपासना पितृ-तर्पण आदि सभी कर्मकाण्ड बदल गए। आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी महाराज ने अपने ग्रन्थों में योग-सिद्धान्तों को बड़ी महत्ता प्रदान की है। उन्होंने अन्य सभी उपासनाओं की अपेक्षा योग को ही प्रमुख माना है। वे स्वयं भी योगाभ्यास किया करते थे। अतः योग की ओर भाई नारायणदास जी का भी झुकाव हो गया।

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी का अमृतसर में आना-जाना रहा ही करता था। उनका योग-प्रचार एवं यौगिक शक्ति-पात की महिमा का विस्तार अमृतसर में जोरों पर था। अमृतसर के योग-साधन आश्रम में सैकड़ों की तादाद में साध्य एवं असाध्य रोगी-गण योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज के नवनिर्मित योग-साधनों से पूर्णतया स्वास्थ्य-लाभ कर चुके थे एवं कर रहे थे। नारायणदास जी की पुत्री शकुन्तलादेवी क्षय-रोग से पीड़ित थी और किसी भी प्रकार की चिकित्सा से उसको लाभ नहीं हो रहा था। श्री प्रभुजी की रोगों को ठीक कर देने की महिमा नारायणदास जी ने भी सुनी। नारायणदास जी चारों ओर से निराश हो ही चुके थे, डूबते को तिनके का सहारा मिला। तत्काल श्री प्रभुजी के दरबार में पहुँचे और उन त्रय-तापनाशक के चरणारविन्दों में अपनी पुत्री की चिकित्सा कर देने की विनम्र प्रार्थना की। निरन्तर जीवों का कल्याण करने में तत्पर कृपानाथ जी अगाध करुणासागर ठहरे, तत्काल ही उनकी पुत्री की यौगिक चिकित्सा अपनी कृपापात्र शिष्याओं के निरीक्षण में करानी आरम्भ कर दी। जिस पर उन आनन्दकन्द प्रभुजी की कृपा-दृष्टि हो जाय वह स्वस्थ्य कैसे न होता? योग-साधन आरम्भ करने के बाद ही शनैः-शनैः इनकी पुत्री शकुन्तलादेवी स्वस्थ होती गई। इस बात का भाई नारायणदास जी के मन पर अत्युत्तम प्रभाव पड़ा। क्रमशः इनका हृदय श्री प्रभुजी के

योगी श्री नारायणदास जी की यौगिक साधना के विवरण के साथ ही पढ़िये इस लेख में श्री गुरुदेवजी की साधना के उनके अपने अनुभूत संस्मरण भी। —सम्पादक

चरणारविन्दों की ओर तीव्र गति से आकर्षित होता चला गया। श्री कृपानाथ जी की कृपा से श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में इनकी निष्ठा दृढ़ होती चली गयी और अनुराग भी दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ने लगा। परिणामतः इनके आर्य समाजी विचारों में भी पूर्णरूपेण परिवर्तन होता गया। समय आने पर इन्होंने श्री प्रभुजी से योग-दीक्षा प्राप्त की।

श्री प्रभुजी ने कृपा करके इनको मूलाधार कमल में ध्यान करने का उपदेश दिया। मूलाधार-कमल में ऋद्धि-सिद्धि सहित श्री गणपति जी का ध्यान किया जाता है। श्री प्रभुजी की आज्ञानुसार ज्यों-ज्यों इन्होंने अपना अभ्यास बढ़ाया, त्यों-त्यों इनकी स्थिति बढ़ती गई एवं यह मूलाधार-कमल के साक्षात् दर्शन प्राप्त करने लगे।

भाई श्री नारायणदास जी को अपने अभ्यास में कई प्रकार के दिव्यानुभव हुए व कई दिव्य औषधियों का ज्ञान भी इन्होंने अपनी समाधि स्थिति में ही प्राप्त किया था। अपने ध्यानानुभव के आधार पर यह उन जड़ी-बूटियों को कहीं जंगल से उखाड़ लाया करते थे एवं सर्वसाधारण के भले के लिए उनका उपयोग करते रहा करते थे। श्री प्रभुजी की कई अद्भुत लीलाओं के दर्शन इन्होंने किए थे। ध्यानाभ्यास से उठकर आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों में प्रणाम करके जिस समय यह अपने घर के लिए चलते थे, मार्ग-भर बराबर श्री प्रभुजी को अपने साथ ही चलते देखा करते थे। जब यह घर में प्रवेश करते तो सामने ही किसी दिव्य-सिंहासन पर आनन्दकन्द श्री प्रभुजी विराजमान दीखते थे। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के अतिरिक्त और भी कई सिद्ध-पुरुषों के दर्शन इनको ध्यान में हुए, जिनसे कई प्रकार के साधन-लाभ इनको प्राप्त हुए थे। वास्तव में श्री प्रभुजी के परम कृपा-पात्रों में से यह भी एक थे।

भाई नारायणदास जी के मन में एक कामना निरन्तर रहती थी—वह थी खेचरी-सिद्धि प्राप्त करने की। खेचरी-साधना की तीव्र लगन निरन्तर इनके हृदय में थी।

जा का जा पर सत्य सनेहू।
सो तिहि मिलहि न कछु सन्देहू॥

इस कथन के अनुसार भाई नारायणदासजी को खेचरत्व प्राप्त होना स्वाभाविक ही था। घट-घट अन्तर्यामी आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने बड़े अद्भुत ढंग से इनकी यह इच्छा पूर्ण की। नित्य अजन्मा श्री प्रभुजी जीवों के कल्याण के लिए योग का प्रचार करने के हेतु थोड़े से समय के लिए ही इस पृथ्वी पर मानव-शरीर धारण किए हुए थे। अब उनके लीलावसान का समय आ पहुँचा था।

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के लीलावसान के समय भाई नारायणदास जी उस स्थान पर उपस्थित नहीं थे, बल्कि किसी नदी के किनारे बैठे हुए थे। अकस्मात् उन्होंने देखा कि आनन्दकन्द श्री प्रभुजी दिव्य जटाधारी स्वरूप से आकाश मार्ग से उड़ते हुए आ रहे। इनके सामने आकर थोड़ी देर को ठहर गए और आकाश में ही स्थित होकर कहने लगे—बेटा नारायणदास, हम तुम्हें मन्त्र बताते हैं, इसका निरन्तर जप करने से तुम्हें खेचरी सिद्धि हो जायेगी। अब तुम हमारे निवास-स्थान पर चले जाओ। हम अपना शरीर छोड़ आये हैं और अब नेपाल हिमालय को जा रहे हैं। ऐसा कहकर श्री प्रभुजी ने आकाश में ही स्थित रहकर उन्हें किसी दिव्य-मन्त्र का उपदेश किया, जिससे उनको स्वतः ही खेचरी सिद्धि हो गई।

जिस समय, श्री प्रभुजी नारायणदास को यह उपदेश कर रहे थे, उस समय श्रीप्रभुजी के दिव्य-चरण-स्पर्श करने की तीव्र इच्छा हुई। स्वयं श्री प्रभुजी के मुख से उनके लीलावसान का सन्देश पाते ही भाई नारायणदास जी व्याकुल होकर भाग पड़े। 'हम अपना शरीर छोड़ आये हैं'—श्री प्रभुजी के मुख से निकला यह वाक्य उनके कर्ण-कुहरों में निरन्तर गूंज रहा था। हृदय में इतनी बेचैनी थी कि इनको मार्ग पूरा करना कठिन हो रहा था। श्री प्रभुजी के निवास-स्थान पर पहुँचकर देखा—वस्तुतः श्री प्रभुजी शरीर त्याग कर चुके थे। श्री प्रभुजी की इस अलौकिक लीला से नारायणदास जी का मन अतिशय चकित था। श्री प्रभुजी से शारीरिक वियोग का दुःख एवं खेचरी-सिद्धि का हर्ष, दोनों भावों से एक साथ ही मन अभिभूत हो गया। गद्गद् कण्ठ होकर एवं नेत्रों में अश्रु भर कर उन सर्वशक्तिमान की सर्व-समर्थता का बार-बार स्मरण करने लगे।

खेचरी-सिद्धि के लिए जो मन्त्र योगयोगेश्वर श्री प्रभुजी ने आकाश में स्थित रहकर अपनी दिव्य-वाणी से उनको दिया था, उस मन्त्र का स्मरण बिना प्रयास के के ही उनको निरन्तर बना रहने लगा। इस मन्त्र के स्मरण के फलस्वरूप भाई नारायणदास जी अनुभव करते थे कि उनका प्राण ब्रह्माण्ड में है। दिव्य-नाद सुनाई दे रहे हैं और वह स्वयं को सहस्रदल पर स्थित देख रहे हैं।

श्री प्रभुजी के लीलावसान के पश्चात् तो भाई जी का वैराग्य दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ने लगा और वह मस्त फकीरों की तरह से रहने लगे। यह जीवन उनका ऐसा बन गया था जिसमें वह अपने आपको संसार से बिल्कुल पृथक देखते थे। भाई नारायणदास जी के प्रसंगवश कहे गए शब्द मुझे आज भी बार-बार याद आया करते हैं। वह प्रायः कहा करते थे—'अरे भाई, यह कोई रहने की जगह थोड़े ही है। दस दिन की मुसाफिरी है, जिससे जो भी बन सके, कर डालो। यह समय फिर हाथ नहीं लगेगा, फिर पछताना पड़ेगा।'

श्री नारायणदास जी अपने देहावसान से पूर्व दो बार श्री सिद्ध-गुफा के दर्शनार्थ सवाई आश्रम भी आये थे। यहाँ आकर वह श्री सिद्ध-गुफा के दर्शन प्राप्त करके तालाब के किनारे एक निर्जन-स्थान पर बैठे रहते थे। वह क्या करते थे एवं किस मन्त्र का जप करते थे, इसको कोई भी मनुष्य समझ नहीं सका, किन्तु उनके सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता था कि उनकी अवस्था सदैव उनमनी रहती है। उनके नेत्र अर्धोन्मीलित रहा करते थे। अनुभव होता था जैसे वह शाम्भवी मुद्रा में स्थित हों। बहुत प्रयत्न करने पर भी अब वह अपनी आन्तरिक अनुभूतियाँ किसी को भी नहीं बताया करते थे। यदि कोई भाई-बहिन अत्यधिक आग्रह करने लगता तो उसे एक ही उत्तर मिलता था—भाई, जाओ अपना काम करो, मैं अपना काम करता हूँ। अब मुझे बतलाने का हुक्म नहीं है।' भाई नारायणदास जी की यह स्थिति लगभग पाँच-छः वर्ष तक देहावसान पर्यन्त इसी प्रकार अनवरत बनी रही थी।

क्रमशः

सम्पादकीय :—

आचरण की त्रिदण्डी

तीन बन्दरों की तीन बातें

बच्चों के विनोद और मनोरंजन के लिए मिट्टी के खिलौने बनाने वाले एक ग्रामीण कुम्भकार ने अपनी सूझ-बूझ के आधार पर तीन ऐसे बन्दर बनाये जिनमें से एक ने अपने दोनों हाथों की हथेलियों से अपनी दोनों आँखें बन्द कर रक्खी थीं, दूसरे ने अपने दोनों कानों को हथेलियों से बन्द कर रक्खा था, और तीसरे ने अपने दोनों हाथों की हथेलियों से अपना मुँह बन्द कर रक्खा था। बड़ी उत्सुकता से लोग इन्हें देखते और खरीद कर अपने घरों को बच्चों के लिए उनका मन बहलाने के लिए ले जाते थे।

× × ×

प्रसंग है उस समय का जब गांधीजी साबरमती आश्रम में रहकर अपने असहयोग आन्दोलन को एक प्रेरक आन्दोलन का रूप देने में संलग्न थे। किसी एक साधक देशभक्त ने बन्दरों की इस त्रिमूर्ति को खरीदकर गांधीजी को भेंट कर दिया। गांधीजी ने इस त्रिमूर्ति को एक ऐसे स्थान पर रख दिया जहाँ बैठकर वे देश-विदेश से आये विशिष्ट अतिथियों से वार्तालाप किया करते थे। एक दिन एक जाने माने विदेशी पत्रकार गांधीजी से उनकी भेंट-वार्ता लेने आ पहुँचे। इन विदेशी पत्रकार ने बड़ी उत्सुकता से बन्दरों की इस त्रिमूर्ति की ओर देखा और पूछा—ये मिट्टी के बन्दर तीन अलग-अलग मुद्राओं और भाव भंगिमाओं में क्यों हैं ? इनमें क्या कोई विशेष बात है।

× × ×

गांधीजी मुस्कराये और बोले—हाँ बन्दरों की यह त्रिमूर्ति भारतीय संस्कृति की सर्वोत्तम शिक्षा का परिचायक है जिसे कुम्भकार ने अपनी सूझ-बूझ और कला के साथ उजागर किया है।

× × ×

पत्र-प्रतिनिधि ने कहा—हम समझ नहीं पा रहे हैं, महाराज, कुछ अधिक स्पष्टता से समझाने की कृपा करें।

× × ×

गांधीजी ने मुस्कराते हुए कहा सुनो! यह तीनों बन्दर हम सबको अपनी अलग-अलग मुद्रा बैठे हुए हमें मानव-जीवन को सुख और शान्तिमय बनाने का यह अमोघ मन्त्र बता रहे हैं कि बुरा देखो मत, बुरा सुनो मत और बुरा बोलो मत।

जिसने आँखों पर हाथ रक्खे हैं वह बुरा न देखने का संदेश दे रहा है। जिसने कानों पर हाथ रक्खे हैं वह बुरा न सुनने का परामर्श दे रहा है और जिसने मुंह पर हाथ रक्खे हैं वह बुरा न बोलने का परामर्श दे रहा है। कितनी उत्तम शिक्षा दे रहे हैं यह बन्दर हमें चरित्र निर्माण की। गांधीजी ने इतना कहकर पत्रकार महोदय को हँसकर विदा किया।

× × ×

उपस्थित श्रोताओं ने भी उस दिन गांधीजी और पत्र-प्रतिनिधि महोदय के इस वार्तालाप का आनन्द लिया। उनमें से किसी एक ने कहा—वैदिक ऋषियों की इस वाणी को ही भारतीय कुम्भकार ने अपनी हस्तकला द्वारा मूर्तमान किया है।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

अर्थात्—हे दिव्य गुण युक्त, सृष्टियज्ञ के विधाता प्रभो! हम आपकी कृपा से कानों से उत्तम शब्द ही सुनें, आँखों से अच्छा ही देखें, स्थिर सुदृढ़ अङ्गों और शरीरों से आपकी ही स्तुति करते हुए आपके द्वारा अपने कर्मानुसार नियत आयु को पूर्ण रूप से प्राप्त होवें; अकाल मृत्यु के ग्रास हम न बनें।

× × ×

तीन बन्दरों की तीन बातें निर्विवाद रूप से मानवीय आचरण की ऐसी त्रिदर्शी है जिसका अवलम्बन लेकर कोई भी साधक अपने उस जीवन पथ को जिसे उपनिषद् कालीन ऋषिवर ने पैनी नुकीली छुरे की धार जैसा बताया है बिना किसी कष्ट और अवसाद के आसानी से पार कर लेता है। बुरा देखो मत, बुरा सुनो मत, और बुरा करो मत। बुरा देखना, बुरा सुनना, और बुरा करना यही तो सारे विवादों की जड़ होती है। यदि यह जड़ काटकर फेंक दी जाय तो सर्वत्र ही हम सबको उस भद्रता के दर्शन होने लगेंगे जिसे शाश्वत आनन्द का सागर कहा जाता है। और इस आनन्द-सागर में अवगाहन कर लेने का अवसर पाकर ही तो शाश्वत शान्ति पा लेना सम्भव हो पाता है। इस शाश्वत शान्ति की उपलब्धि ही तो मानव-जीवन का लक्ष्य होता है। इस विकार रहित अवस्था का नाम ही मुक्ति कहलाती है। योग-साधकों का सारा प्रयास इस अवस्था का पा लेना ही तो रहता है। और मिल जाती है यह अवस्था उन्हें जिनके चरित्र में शुभ्रता उज्ज्वलता और पावनता का आभास निरन्तर समाया रहता है। इसके लिए बुरा देखने, बुरा सुनने और बुरा करने की प्रवृत्ति को निवृत्ति से सर्वथा छुटकारा पा लेने की आवश्यकता को वरीयता देना ही शुभ और श्रेयस्कर रहता है। यही सारतत्व है तीन बन्दरों की तीन बातों का।

बुरा देखो मत, बुरा सुनो मत, बुरा करो मत।

सन्त कबीर ने भी तो यही कहा है :—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय॥

—सम्पादक

रमता जोगी बहता पानी

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित बानी।
'चलने से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी' ॥

उलूक-दृष्टि !

एक दिन एक मनन-शील साधु अपने आश्रम से किसी दूसरे आश्रम में अपने परिचित साधु से मिलने के लिए निकल पड़े। दोनों आश्रमों के बीच का रास्ता लम्बा था, आवागमन का कोई अन्य साधन सुलभ न होने के कारण पद-यात्रा का ही सहारा लिया गया। गरमी का मौसम था चलना प्रातःकाल के सुहावने मौसम में तो सुखद रहा लेकिन तेज दोपहरी में चलते-चलते जब उन्हें अधिक थकान महसूस हुई तो उन्होंने मार्ग के सहारे मिलने वाले एक सघन से आम्र-वृक्ष की छाया में कुछ घण्टे विश्राम कर लेना उचित समझा। वे ठहर गये और इसी वृक्ष के नीचे अपने कन्धे पर पड़ी हुए साफ सुथरी चादर को बिछाकर उसी पर लेट गये।

× × × ×

मार्ग-श्रम की थकावट से उन्हें नींद आ गई और उसी नींद में वे अपने स्वप्न-जगत में जा पहुँचे। उन्होंने देखा कोई एक उनका पुराना शिष्य एक चौबारे की मुंडेर पर उलूक-योनि पाकर बैठा हुआ है और उनसे कह रहा है, गुरुदेव ! यह मेरा अपना ही सौभाग्य है जो मुझे आप यहाँ आम्र-निकुञ्ज में विश्राम करते हुए मिल गये हैं। मैं आपसे यह जानने की इच्छा रखता हूँ कि मुझे यह उलूक-योनि क्यों प्राप्त हुई और कब मुझे इससे छुटकारा मिलेगा ?

× × × ×

साधु को भी अपने पूर्व जन्म की स्मृति हुई। उन्होंने अपने पुराने जन्म के शिष्य को पहचान लिया और उसके परितोष के लिए कहने लगे—शिष्य तुम्हारा यह प्रश्न लोकहित में है इसलिए इसका समाधान कर देना भी मैं आवश्यक समझता हूँ।

प्रिय शिष्य सुनो ! प्रत्येक प्राणी को अपने जीवन के संस्कारों के अनुसार अन्तःकाल में जो भाव-वृत्ति उभरकर उसके स्मृति-पटल पर आ जाती है उसीके अनुसार उसे उसकी योनि दे दी जाती है। सृष्टि के नियन्ता और कर्त्ता का ऐसा ही विधान है। इस विधान और व्यवस्था में कोई भी कहीं परिवर्तन कर देने में समर्थ नहीं हो पाता है। इसीलिए विवेक-

शील प्राणी सदा सत्कर्मों और सद्-विचारों की राशि लेकर सतत् अपनी भावनाओं को प्रबल बनाने का अभ्यास किया करते हैं ताकि अन्तकाल में प्रबल बनी हुई भावना ही उनके स्मृति-पटल पर उभरकर सामने आ सके। इस दिशा में सतत् अभ्यास नितान्त आवश्यक रहता है। भगवान पतञ्जलि देव ने भी योग-साधना में इसीलिए 'सतत् अभ्यास' पर विशेष बल दिया है।

× × × ×

प्रिय शिष्य सुनो! पूर्व जन्म में तुम्हारी उलूक-दृष्टि अधिक बनी रहती थी, ज्ञान दीप की जगमग जाग्रत ज्योति से बचकर तुम्हारी सारी वृत्तियाँ सदा अज्ञान रूपी अन्धकार में प्रायः डूबी रहती थीं। सद्विचारों और सद् कार्यों से जी चुराकर तुम न तो आचार्य की उचित बात सुनना पसंद करते थे न तुम कभी सत्संग का आश्रय लेते थे। तामसी निशाचरों की भाँति तुम अपने विचारों और कार्यों से अपने ही स्वार्थ-साधन में लगे रहते थे। काला धन, काला काम और चोरों के समान तुम्हें काली रात ही बहुधा प्यारी लगती थी। इसीलिए तुम्हारी वृत्ति उलूकी वृत्ति के रूप में तुम्हारे प्रयाण काल में उभर कर तुम्हारे स्मृति-पटल पर आ गयी, और इसी उलूकी-वृत्ति ने तुम्हें इस उलूक-योनि में ला पटका है।

× × × ×

प्रिय वत्स सुनो! इस अन्धी योनि से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय यही है कि मन में तुम उस परम पुरुष की जो सदैव जाग्रत जगमग बना रहता है धारणा करते रहो, यह धारणा और ध्यान ही तुम्हें पुनः दुर्लभ मानव-योनि को प्राप्त कराने में समर्थ हो सकेगा। नहीं तो फिर यह कहावत ही कही-सुनी जाती रहेगी :

'जो न उलूक बिलोकत है दिन,
तौ कछु दोष नहीं सविता हीं।'

× × × ×

इसके बाद साधु की आँख खुल गई। स्वप्न भंग हो गया, उलूक रूपी शिष्य आकाशगामी हो गया और साधु अपनी पद-यात्रा पर आगे बढ़ गया। लेकिन आम के पत्तों पर वे यह सन्देश सर्वजनहिताय लिख गये—अवसर चूके का पछितावा!

—रमताराम की डायरी से

★ परमार्थ सिद्धि चाहते हो तो सावधान होकर सत्य लक्ष्य को देखो, संसार से आँखें मोड़ लो पीछे लौटो और अब संसार की ओर न बढ़ो। जो संसार का लिया है उसे तो छोड़ो अधिकार प्राप्त करने के लिए चेष्टा न करो।

—साधुवेश में एक पथिक

पंचकोश और योग-साधना

□ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

[आचार्य प्रवर ने प्रस्तुत लेख में देहगत पंचकोशों और उनमें समाहित गूढ़ शक्तियों का विस्तृत परिचय अपनी सुबोध-शैली में कराया है। आशा है पाठक मनोयोगपूर्वक इसमें पढ़कर बतलाई गई क्रियाविधि को अपनाकर लाभ उठाने का प्रयास करेंगे। —सम्पादक]

योग-साधना का चरम उद्देश्य प्रकृति-पुरुष विवेक अथवा जड़-चेतन की ग्रन्थि खोलकर प्रकृति और आत्मा (पुरुष) को अपने-अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित करना है। इसी को शास्त्रीय भाषा में प्रकृति और पुरुष का कैवल्य या मोक्ष कहा गया है। योग के अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि के सतत् अभ्यास से स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा महाकारण शरीरों में सत्, रज, तम गुणों की त्रिगुणात्मिका प्रकृति और विशुद्ध आत्मतत्व का प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध या बन्धन का क्षय हो जाना ही अशुद्धि का क्षय है। योगदर्शन में अविद्या को बन्धन का कारण माना गया है। वेदान्त में उसे ही अज्ञान और माया का नाम दिया गया है। विराट् चेतना विभिन्न शरीरों में आकार सिमटती है, परिछिन्न होती जाती है। इस चेतना की हदबन्दी को ही 'कोश' या शरीर कहा जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म कारण और महाकारण शरीर उसी प्रकार हैं जिस प्रकार तकिये के गिलाफ के अन्दर कई और गिलाफों के आवरण हों। स्थूल शरीर हाड़, मांस, स्नायु, नख, केश आदि अवयवों का समूह होता है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पंचभूतों के अन्दर मन और प्राण तथा इन्द्रियों का संघात है। स्थूल शरीर की अपनी कोई शक्ति नहीं होती। इसमें जो भी शक्ति दिखायी पड़ती है वह शक्ति सूक्ष्म शरीर की होती है यह सूक्ष्म शरीर (Astral Body) नस नाड़ी, अस्थि मांस से रहित मन और प्राणों की शक्ति से कार्य करता है। जैसे भाप इंजन को गतिशील बनाती है उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को क्रियाशील व जीवित रखता है और यह ओज और तेज के चमकीले तत्व से बना होता है। मन संकल्प करने का नाम है, आत्मा में स्थूल विषयों का उदय होना ही मन है और परम पुरुष के संकल्पमय होने का नाम ही चित्त है। यह मन संकल्प विकल्पों के द्वारा ही राग-द्वेष, अभिनिवेश आदि पंचक्लेशों से युक्त जगत की सृष्टि करता है। इस प्रकार यह मन जब आत्मा से जुड़ता है तब चैतन्य हो जाता है और दृश्यरूप से जुड़ने पर जड़ हो जाता है। जड़ होने पर आत्मस्वरूप होने से उसमें कर्तृ स्वभाव आ जाता है। उसके आते ही विषयों का भोग करने की फल-आकांक्षा भी आ जाती है। वैसे तो मन सूक्ष्म आकार वाला है तथापि स्थूल भावों की अधिक समय तक भावना करते रहने से स्थूल बन जाता है और अपने नाना कार्यों और रूपों के कारण वही मन कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या और जीव, पदार्थ आदि के रूप में

आभासित होने लगता है। इस मन में अनन्त शक्ति का भण्डार है। जैसा मन होता है वैसी ही गति होती है, इससे ही अपने अन्दर के शरीरों को देखने की अन्तःप्रज्ञा विकसित की जा सकती है। साधना के द्वारा ही पंचकोषों का साक्षात्कार करके आत्मराज्य में विचरण किया जा सकता है।

पंचकोश

कोश पांच माने जाते हैं। (1) अन्नमय कोश (2) प्राणमय कोश (3) मनोमय कोश (4) विज्ञानमय कोश (5) आनन्दमय कोश।

स्थूल शरीर से कारण और महाकारण शरीर तक पहुँचने के लिए अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक का भेदन योग साधना के द्वारा किया जाता है।

अन्नमय कोश

अन्नमय कोश स्थूल शरीर है जो कि पृथ्वी, जल, वायु, आकाश तत्व से बना हुआ है। स्थूल शरीर के दो भाग हैं—पहला अन्नमय कोश कहलाता है और दूसरा प्राणमय कोश।

स्थूल शरीर की उत्पत्ति, वृद्धि और पुष्टि अन्न से ही होती है। अन्न का ही परिणाम रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, वीर्य, ओज आदि सप्त धातुएँ हैं। इन धातुओं की सम्यता की रक्षा के लिए सब प्राणी षट्रस युक्त अन्न का सेवन करते हैं। अन्न ही परम औषधि है इसी से बुभुक्षा शांत होकर तुष्टि और पुष्टि मिलती है। अन्नमय कोश के आधार स्थूल शरीर में आत्मा का चैतन्य 'विश्व' कहा जाता है। भौतिक, ज्ञान विज्ञान के अनुभव एवं विश्लेषण द्वारा मनुष्य को अन्नमय कोश से युक्त पंच भूतात्मक इस जड़ 'विश्व' नाम वाले प्रपंच का साक्षात्कार होता है। आसन और प्राणायाम के दीर्घकाल निरन्तर सत्कार पूर्वक अभ्यासपूर्वक आत्म-चैतन्य के प्रकाश का आवरक अन्नमय कोश नष्ट होता है।

प्राणमय कोश

स्थूल शरीर का दूसरा कोश प्राणमय कोश है। यह स्थूल से सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर की अधिक निकटता से सूक्ष्म शरीर का कोश भी माना जाता है। पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच प्राणों से इस कोश का निर्माण होता है। सभी प्राणधारी जीव प्राण के आधार पर जीते हैं। इस प्राण की ब्रह्म-स्वरूप में उपासना करने वाले साधक को पूर्ण आयु प्राप्त होती है। प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान परस्पर सूक्ष्म और स्थूल शरीर का संचालन करते हैं। अपान वायु को रोककर रखने वाली पृथ्वी की आधि दैविक शक्ति जो किसी देवता या मंत्र के रूप में साधक की उपासना बनती है वही इस प्राणमय कोश का आधार है। प्राणमय कोश का क्षेत्र प्राण और इन्द्रियों तक व्याप्त है। योगदर्शन में वर्णित दूरदर्शन, दूरश्रवण, विकरण भाव आदि शक्तियों का प्रादुर्भाव प्राणकोश का भेदन करने से होता है। आत्मा निष्कल तथा निश्चल एवं वाणी रहित है। प्राण ही आत्मा को आवृत्त कर गतिशील और वाणीयुक्त कर देते हैं। प्राण के ही कारण भूख-प्यास रहित आत्मा में भूख-प्यास का अनुभव होता है। हृदय में प्रविष्ट वायु शरीर में फैलकर नाना प्रकार की चेष्टाएँ करती हुई विशेष स्थानों में स्थित होकर प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाम से जानी जाती है। हृदय कमल में रहने वाली वायु प्राण कहलाती है। इसकी एक शक्ति आँखों में आकर देखने का कार्य करती है दूसरी शक्ति त्वचा में जाकर स्पर्श बोध,

तीसरी शक्ति नाक में गंध बोध कराती है। चौथी शक्ति उदरस्थ भोजन पचाती है। अन्य शक्ति जिह्वा में जाकर वाणी का संचालन करती है। ऊपर की ओर जाने वाली वायु का नाम प्राण और नीचे की ओर जाने वाली वायु का नाम अपान है। इसका रूप कमल नाल के तन्तु के हजार वें हिस्से से भी सूक्ष्म और दुर्लक्ष्य होता है। प्राण और अपान की गति को वश में करके योगी स्वस्थ रहकर सुख भोगता है। हृदय कमल से प्राण का उदय होता है जिसका विस्तार बारह अंगुल तक बाहर है। प्राण की गति अग्नि शिखा की तरह ऊपर की ओर और अपान की गति जल की तरह बाहर से भीतर नीचे की ओर है। प्राण और अपान की गति को एक करके योगीजन आत्मा का साक्षात्कार किया करते हैं।

जब हृदय के अन्दर अपान शान्त हो जाय और प्राण का उदय न हो उस समय ध्यान करने से पुनर्जन्म नहीं होता। हृदय में अपान के अस्त होने पर अपान का उदय होता है और बाहर प्राण का अस्त होने पर अपान का उदय होता है। प्राण और अपान की गति का पूर्ण निरोध होने पर स्वरूप प्रतिष्ठा तथा आत्मदर्शन होता है। योगवाशिष्ठ में महर्षि वशिष्ठ श्रीराम को सम्बोन्धित करके कहते हैं कि हे राम, प्राणों को वश में कर लेने पर प्रत्येक मनुष्य राज्य प्राप्ति से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक सब प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। अपान प्राण सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर की मृत्यु के बाद अन्य लोकों में ले जाता है और पुनर्जन्म तक उसका वाहक रहता है। समस्त विश्व का संचालन यह प्राण शक्ति ही कर रही है। प्राण के अमृत तत्त्व को इन्द्रियां मन तक पहुँचा कर मनुष्य के कर्म और चिंतन को सर्वभूतहित करने वाला बनाती हैं। बैखरी और मध्यमा वाणी जब प्राण शक्ति से समन्वित होती है तो सूक्ष्म रहस्य और अनुभव व्यक्त करने की सामर्थ्य आ जाती है। प्राणमय कोश का अतिक्रमण प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा सिद्ध हो जाने पर हो जाता है।

मनोमय कोश

सूक्ष्म शरीर के दो भाग माने जाते हैं एक क्रिया प्रधान और दूसरा ज्ञान प्रधान। क्रिया-प्रधान भाग को मनोमय कोश कहा जाता है। मनोमय कोश का मुख्य आधार मन है। वैसे प्राण और मन, व्यक्ति और उसकी छाया की तरह से एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। तथापि मन प्राणों से भी सूक्ष्म, शक्तिशाली और व्यापक है। संकल्प विकल्पात्मक शक्ति ही मन है। मन एक अद्‌भुत प्रकाश-पिण्ड है। मस्तिष्क के ब्रह्मरन्ध्र नामक स्थान में जिसे सहस्रार या सहस्रदल कमल कहते हैं, मानव का सूक्ष्म शरीर रहता है। वहीं पर अग्निज्योतिर्मय स्वर्णाभ बुद्धिमण्डल के शिखर पर मन का निवास स्थान है। मन इन्द्रियों का राजा तथा बुद्धि और स्थूल शरीर का साथी है। बुद्धि और इन्द्रियों से मन का तालमेल बनाए रखना मन का काम है। मन अगर नियंत्रित न हो तो बुद्धि और इन्द्रियाँ ठीक से कार्य नहीं कर पातीं। बुद्धि और इन्द्रियों के कार्यों के बीच में मध्यस्थ का काम मन करता है। बुद्धि के आदेशों का पालन तथा इन्द्रियों को ज्ञान और क्रिया में लगाने का काम कराता हुआ मन दोनों से सम्बन्ध रखता है। वह त्रिगुणात्मक है। मन को संसार चक्र की नाभि कहा जाता है। मन के भीतर ही

चिकित्सा करने से सारा संसार ठीक हो जाता है। अपने भीतर यदि शांति प्राप्त हो गई तो सारा संसार अमृत से भरपूर दिखाई पड़ता है। जैसे जूता पहने हुए पुरुष के लिए समस्त पृथ्वी चमड़े से ढकी हुई सी प्रतीत होती है, यद्यपि आकाश सर्वत्र विद्यमान है तथापि उसका प्रतिबिम्ब केवल दर्पण में ही पड़ता है। वैसे ही आत्मा, सर्वव्यापी होते हुए भी उसका दर्शन मन के भीतर होता है। मन के शुद्ध होने पर अष्टसिद्धियाँ तथा पातंजलि योग दर्शन में बतायी गई अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा सब प्राणियों की वाणी समझने की सिद्धि, पूर्व जन्म का ज्ञान, पर चित्त, ज्ञान, अदृश्य हो जाने की शक्ति, मृत्यु, ज्ञान, अपार बल की प्राप्ति, सूक्ष्म, गुप्त और दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान, सूक्ष्म लोकों का ज्ञान, ग्रह, नक्षत्र की, गति का ज्ञान, शरीर के भीतर की नाड़ियों का ज्ञान, भूख प्यास की निवृत्ति, स्थिरता, सिद्धों का दर्शन, सर्वज्ञता, दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति, आत्मज्ञान इन्द्रिय विजय, त्रिकालज्ञता, दूरदर्शन, दूरश्रवण, स्पर्श आदि। शुद्ध मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह अवश्य वैसी ही हो जाती है। जैसे जल भँवर का रूप धारण कर शक्ति सम्पन्न हो जाता है।

अशुद्ध मन शक्तिहीन होता है। वह दूसरे के मन के साथ जुड़ने में असमर्थ होता है। शुद्ध और गर्म किया हुआ लोहा ही जैसे दूसरे शुद्ध और तपे हुए लोहे में मिल सकता है उसी प्रकार शुद्ध व्यष्टि मन ही शुद्ध समष्टि मन से एकरूप हो सकता है। जिनके मन में इस प्रकार का भ्रम दृढ़ हो था। है कि मैं भौतिक शरीर हूँ उनमें आकाश गमनादि सिद्धियाँ कैसे आ सकती हैं तथा प्रबुद्ध तथा सूक्ष्म भाव को प्राप्त संकल्परहित पवित्र सिद्ध लोकों का दर्शन अशुद्ध मन से कैसे हो सकता है। जिन्होंने योगाभ्यास से मन की वासना को क्षीण कर लिया है उनमें सूक्ष्म भाव का उदय हो जाता है। जैसे बर्फ गर्मी पाकर पानी हो जाती है वैसे ही वितर्क भावना द्वारा मनोमय कोश विगलित हो जाता है और संकल्पों के क्षीण होने पर आत्म भाव का विकास होता है। अपने में अहं भाव का आरोपण करना ही संकल्प कहलाता है और यही मन का बन्धन है। संकल्प द्वारा ही जगत का मिथ्या अनुभव उत्पन्न हुआ है।

अहं भाव को शून्य करना ही संकल्पों का त्याग है। संकल्प रहित होने से मनुष्य चित्त रहित हो जाता है और संसार का सारा दुख जड़ से नष्ट हो जाता है। शिव संकल्प द्वारा अपने मन के वासनिक संकल्पों को काटकर आत्मा में स्थित होना ही योग साधना है। ज्ञान द्वारा भी वासना रहित हो जाने पर मन का नाश हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन भी रुक जाता है केवल शांति ही शेष रहती है। भोगों की घृणा से विचार उत्पन्न होता है और विचार से भोगों के प्रति घृणा होती है। जैसे पानी से सींचने पर लता धीरे-धीरे बढ़ती है, वैसे ही शनैः-शनैः अभ्यास करने पर मन संकल्पहीन हो जाता है। जिसका मन वासना रहित हो गया हो उसे न कर्म त्यागने की आवश्यकता है न कर्म करने की, और न

समाधि और जप करें। ॐ का उच्चारण करते हुए इन्द्रियों को विषयों से हटाकर प्राणायाम करने से तथा कार्य को कारण में लय करने से मनोमय कोश शुद्ध होता है, जैसे जो-जो ज्ञान और कर्मेन्द्रिय जिस-जिस तत्व से बनी है उसको उस तत्व में विलीन कर तत्व दृष्टि होने पर आत्म भाव करने से मनोमय कोश का भेदन हो सकता है। लय योग के द्वारा प्रत्येक वस्तु को उसके कारण में लीन करके कार्य दृष्टि को हटाकर कारण दृष्टि की स्थापना करते रहने से परम कारण शुद्ध चेतन ब्रह्म की दृष्टि का अनुभव होने लगेगा।

शरीर के मांसादि पार्थिव भाग को पृथ्वी में विलीन करें। रक्तादि जल भाग को जल में, रूप को अग्नि में, प्राणों को वायु में और वायु को आकाश में, और आकाश को मन में, मन को अव्यक्त में और अव्यक्त को शुद्ध चैतन्य ब्रह्म में विलीन करे। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय में, जिस तत्व से वह बनी है, उस तत्व की भावना करके उसके कारण में लय करे यथा कानों को दिशाओं में, त्वचा को विद्युत में, चक्षु को सूर्य के बिम्ब में, जिह्वा को जल में, घ्राण को वायु में, वाक् को अग्नि में, हाथ को इन्द्र में, पैरों को विष्णु में, धारणा को कश्यप में, मन को चन्द्रमा में, बुद्धि को ब्रह्मा में विलीन करे। इस प्रकार अपने शरीर को ब्रह्माण्ड के समष्टि शरीर में विलीन करके मैं सर्वव्यापक हूँ, इस भावना का अभ्यास करे।

मनोमय कोश में इच्छा शक्ति और संकल्पात्मक वृत्ति की प्रधानता होती है। इसमें सूक्ष्मता और अचरित अथवा स्थूल बैखरी दोनों वाणियों, की मध्यवर्ती वाणी 'मध्यमा' वाणी रहती है। एक ओर इसमें बैखरी वाणी का वर्ण विभाग विद्यमान है तो दूसरी ओर वाणी का अनुच्चरित सूक्ष्म रूप भी होता है यह वाणी आत्मा की ज्योति को प्रकाशित करती है। भाव की अनुभूति इसी स्थान पर होती है। इस कोश में मध्यमा वाणी तेजपुंज के रूप में विद्यमान है जो ज्ञान के विभक्त रूप को एकत्व प्रदान करती है। योगसाधना द्वारा मनोमय कोश का भेदन करने पर आत्मप्रकाश का साक्षात्कार होता है जहाँ 'समत्व' तथा 'एकत्व' का दर्शन सम्भव होता है। मनोमय कोश पर ज्ञानेन्द्रियों के रंगों का आवरण है अतः यह आत्मस्वरूप को मिथ्या, संशय, भ्रम आदि से आच्छादित करके शोक, मोहयुक्त करता है अकर्ता आत्मा को कर्ता आत्मा में प्रकट करता है। इसमें आत्मा की 'तैजस' संज्ञा होती है। मन की इच्छा शक्ति के अनुसार ही प्राणमय और अन्नमय कोश कार्य करते हैं। संकल्पात्मक वृत्ति के द्वारा साधक मन वाणी एवं समस्त इन्द्रियों के माध्यम से परब्रह्म के द्वार तक पहुँचा देता है। साधक को वहीं छोड़कर इन्द्रियों का समुदाय वापस लौट आता है इसके आगे इन्द्रियों की गति नहीं है जैसा कि उपनिषद् में निर्देश मिलता है।

'यत्रवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

विज्ञानमय कोश

यह कोश महत्तत्व, बुद्धि और अहं तत्वों से निर्मित है। यह सूक्ष्म शरीर का ज्ञान प्रधान भाग है। मनोमय शरीर को इसी से शक्ति मिलती है। यह मनोमय शरीर से सूक्ष्म है। इसके भीतर रहने वाला आत्मा विज्ञानमय कोश में व्याप्त होते हुए भी इससे अलग है। आत्मा बुद्धि रूपी गुफा में निवास करता है। इसमें रहने वाला जीवात्मा इसी के आकार का है। यह अपने से पूर्ववर्ती तीनों कोशों (मनोमय, प्राणमय, अन्नमय) के माध्यम से समस्त शरीर में व्याप्त है। श्रीमद्भगवद्गीता में क्षेत्रज्ञ रूपी जीवात्मा को क्षेत्र रूपी शरीर में व्याप्त माना है। बुद्धि विज्ञानात्मा का प्रधान भाग है। ध्यान और निदिध्यासन (समाधि) द्वारा जीवात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार इसी कोश में होता है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि आत्मा का दर्शन सूक्ष्मदर्शी बुद्धि के अग्रभाग से किया जा सकता है। सदाचार और सत्याचरण इसके अभिन्न अंग हैं। श्रवण और मनन तक इन्द्रियों का सम्बन्ध गोचर नाना रूपात्मक दृश्यों से होता है। मन उन दृश्यों का बिम्ब ग्रहण करता है। ये बिम्ब कुछ समय बाद सूक्ष्म चित्रों के रूप में निःशेष रह जाते हैं।

विस्मरण तथा स्मरण की प्रक्रिया में कभी-कभी भूले-बिसरे चित्र भी उभर आते हैं। इसके ऊपर की अवस्था में दर्शन मात्र होता है। उसका कोई रूप और प्रकार नहीं है। ज्ञान होता है किन्तु उसका विषय वहाँ नहीं होता और न नानात्व का विभाग होता है। 'योग दर्शन' में इसी को ध्यान तथा समाधि तथा वेदान्त में निदिध्यासन कहा है। यह पश्यन्ती वाणी की सहायता से सम्भव होता है। पातंजल योगदर्शन में इसे ऋतम्भरा प्रज्ञा का क्षेत्र माना है। विज्ञानमय कोश का प्रज्ञा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहाँ शब्द, वर्ण, अर्थ आदि का विभाग नहीं है। केवल शब्दार्थ का ऐक्य है। यहां पश्यन् ही पश्यन् है, दर्शन ही दर्शन है। यहां अर्थ के पीछे शब्द नहीं चलता बल्कि शब्द के पीछे अर्थ स्वतः संयुक्त भाव से उपस्थित रहता है। भवभूति ने इसी अवस्था में स्थित ऋषियों के विषय में कहा है कि ऋषियों की वाणी अर्थ का अनुगमन नहीं करती है। प्रयुक्त अर्थ उनकी वाणी का अनुगमन करता है।

योगी की वाणी सत्यप्रतिष्ठित होती है जिससे क्रियाकलाप सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यदि वह अधार्मिक और पापात्मा को धार्मिक और पुण्यात्मा होने का आशीर्वाद दे दे तो उसकी वाणी सत्यप्रतिष्ठित होने के कारण फलवती हो जाती है। उस भूमिका पर ही गीता में कथित 'स्थित प्रज्ञ' स्थिति घटित होती है। यहीं योगयुक्त स्थित तथा ज्ञानाग्निदग्ध कर्मावस्था घटित होती है। यहीं पर मिट्टी के ढेले और सोने में 'समभाव' और 'पण्डित' की स्थिति प्राप्त होती है। यहीं सभी कर्म भस्मसात् होते हैं। 'पश्यति' अवस्था विज्ञानमय कोश में ही आती है। ज्ञानी तथा अकल्मष योगी, साधक, समदर्शी

तथा सर्वभूत हितेरत' बन जाता है। 'ब्रह्म योग युक्तात्मा' स्थिर बुद्धि असम्मूढ़' 'ब्रह्मविद' आदि विभूतियाँ विज्ञानमय कोश की ही भूमिका में प्राप्त होती हैं। पश्यन्ति वाणी के प्रकाश में ही ऋषि वेदों का दर्शन करते हैं इस कोश का सम्बन्ध आदित्य से है। सविता या आदित्य की उपासना द्वारा गायत्री मंत्र से बुद्धि को प्रेरित करने कारण इस मंत्र को श्रेष्ठ माना जाता है। अंशी अपने अंश को गतिशील एवं प्रेरित करता है।

इसी नियमानुसार ऋषि गायत्री की उपासना करते हैं। पश्यन्ति वाणी के क्षेत्र में देव दर्शन मंत्रार्थ बोध तथा तत्वज्ञान का साक्षात अनुभव होता है। इस भूमिका पर पहुँचा हुआ साधक 'ऋषि' कहलाता है। वेदों में अग्नि वायु, आदित्य वामदेव, विश्वामित्र आदि जिन 'ऋषियों का उल्लेख है वे सब इसी भूमिका पर स्थित योगी थे। विज्ञानमय कोश आत्मा के अकर्त्ता, अभोक्ता आदि स्वरूप को ढककर बुद्धि बोधात्मा कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता युक्त प्रकट करता है। इस कोश में अहंकार का आश्रय होने से कर्त्तृत्व बोध के भावों एवं सुखों का भी अनुभव होता है। विज्ञानमय कोश का भेदन विचार और आनन्दानुगत समाधि की स्थिति को प्राप्त कर लिया जाता है। देशकाल रूप विशेषणों से अनुभव में आए हुए सूक्ष्म परमाणुओं में शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित बोध युक्त समाधि सविचार समाधि कहलाती है। गुणों की साम्यावस्था पर्यन्त मूल प्रकृति पर्यन्त, ज्ञान बोधरूप समाधि विचारानुगत समाधि कहलाती है। आनन्दानुगत समाधि में सत्व प्रधान अहंकार की 'अहम् अस्मि' से भासने वाली चित्त वृत्ति का अनुभव होता है।

आनन्दमय कोश

सूक्ष्म शरीर को जीवन शक्ति देने वाला कारण शरीर (Causal Body) होता है। यह सूक्ष्म शरीर में व्याप्त है। इसे आनन्दमय कोश कहते हैं। इस कोश का आधार शुद्ध चेतन स्वरूप जीवात्मा है, जिसके स्फुरण से मन बुद्धि, चित्त, अहंकार अंतःकरण चतुष्टय कार्य करते हैं। विज्ञानमय जीवात्मा के भीतर आनन्दमय परमात्मा है। यह विज्ञानमय कोश से पृथक है। इसमें चित्त अर्थात् महतत्व प्रधान है। यहाँ आत्मा की संज्ञा प्राप्त होती है। इस कोश में शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा जो प्रिय मोद, प्रमोद और अपरिछिन्न सुख रहित है उसे प्रिय मोद और सुख स्वरूप रूप में प्रकट करना इस कोश का धर्म है। अज्ञान का आवरण ही जीव को बद्ध कर कारण शरीर में परिछिन्न करता है योग भी समाधि द्वारा विज्ञानमय कोश से आत्माध्यास की निवृत्ति होने पर आनन्दमय कोश में चितिशक्ति की स्थिति होती है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में इसे पुरुषोत्तम योग कहा है। अस्ति भाति और प्रिय अथवा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् आनन्दमय परमात्मा की विभूतियाँ हैं।

जब तक आनन्दमय कोश का भेदन नहीं होता तब तक योगी महाकारण निर्विकल्पक एवं निर्बीज समाधि स्थित नहीं होता और न आत्मतृप्त होता है। इस भूमिका पर ही योगी को आत्म-ज्योति एवं शुद्ध ज्ञान के अजस्र प्रकाश की प्राप्ति होती है। यहीं पराबाणी का निवास है। 'शतपथ ब्राह्मण' में 'प्रजापतेः परमहित वाक्, ऐसा वाक्य इसी पराबाणी की ओर संकेत करता है।

इस पराबाणी में बीज रूप से समस्त ज्ञान-विज्ञान उसी प्रकार सन्निहित रहता है

जिस प्रकार बीज में वृक्ष अव्यक्तभाव में रहता है। महाभारत के शान्तिपर्व परावाणी को परमात्मा की वाणी कहा गया है।

'अनादि निधना नित्या
वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी नित्यायतः
सर्वाः प्रवृत्तयः ॥'

जब शुद्ध निर्विकार आत्म-तत्व को चित्त का कोश आच्छादित कर देता है तो असीमित एवं सुख-दुःख रहित आत्मा में, ससीम सुख-रूपता भासित होने लगती है। आनन्दमय कोश में अज्ञान का आवरण ही जीव का प्रकृति बन्धन या माया की उपाधि युक्त चैतन्य कहा जाता है। कारण शरीर सहित आत्मा को मणिप्रभा अथवा स्वयं उद्दीप्त प्रज्ञा कहते हैं।

आनन्दमय कोश का भेदन निर्विचार समाधि की भूमिका में होता है। निर्विचार समाधि के सम्बन्ध में पातंजलि योग दर्शन का निर्वचन है कि यह समाधि सवितर्क, निर्वितर्क और सविचार इनसे उत्कृष्ट उच्च अवस्था की स्थिति है। योगदर्शन के समाधि-पाद में सूत्र सेंतालीस में निर्देश है कि—

'निर्विचार वैशारद्ये अध्यात्म प्रसादः'

अर्थात् निर्विचार समाधि की अवस्था में केवल अस्मि वृत्ति रहती है जहाँ रज, तम, रूप, मल और आवरण का क्षय होने पर प्रकाश स्वरूप प्रज्ञा का सत्वगुण-स्रोत निरन्तर बहता रहता है जिससे योगी गूढ़ से गूढ़ और देशकाल से सुदूर प्रकृति पर्यन्त वस्तुओं का भी साक्षात्कार क्षण मात्र में करने की सामर्थ्य वाला हो जाता है। बुद्धि की इस निर्मलता को ही अध्यात्म प्रसाद अथवा प्रज्ञा प्रसाद या स्फुट प्रज्ञालोक कहा गया है।

इस अवस्था में जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह समाधिजन्य बुद्धि का प्रकाश होता है, उसमें मिथ्या, संशय और विपरीत ज्ञान का लेश मात्र नहीं होता। अविद्या आदि से रहित केवल सत्य का ही अनुभव होता है। योगदर्शन में इसी सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा को ही ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा है। ऋतु का अर्थ केवल यथार्थ ज्ञान मात्र ही नहीं अपितु साक्षात अनुभूत सत्य है जो कि शास्त्र प्रत्यक्ष अनुमानादि से भी परे की स्थिति है क्योंकि इनसे वस्तु के केवल सामान्य रूप का ही साक्षात्कार होता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा से पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार होता है। इस प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार विवुत्थान संस्कारों का और उनसे होने वाली वृत्तियों का निरोधक होता है। इसे ही विवेक ख्याति कहा गया है। विवेक ख्याति के उदय होने से क्लेश वासनादि के संस्कारों के भोग की समाप्ति हो जाती है। यहीं तक चित्त का अधिकार होता है उसके आगे नहीं।

जब समस्त संस्कार प्रवाह का अस्मिता-नुगत समाधि द्वारा निरोध होता है तब निर्बीज समाधि की भूमिका आती है। निर्बीज समाधि प्राप्त कर लेना ही योग का चरम लक्ष्य है, इस अवस्था में ही योगी जीवन मुक्त पद को प्राप्त होता है। यहाँ चित्त को बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं।

नाड़ी संचालन

☐ योग-योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

जीवन तत्त्व साधन की आठवीं क्रिया का नाम नाड़ी संचालन है। इसको करने के लिए सीधे बैठ जाइये और अपने पैरों को जितना अधिक फैलाया जा सके, खोलकर फैलाइये। इस तरह फैलाने पर घुटने के नीचे का भाग और पैर की पिण्डली बिलकुल जमीन से सटी रहनी चाहिए। दोनों के पैरों के बीच का व्यवधान कम से कम सात बालिश्त का होना चाहिए। इस तरह पैर फैलाने के बाद थोड़ा शरीर को आगे की ओर झुका कर दाहिने हाथ की अँगुलियों से बायें पैर के अँगूठे को छुओ और बायें हाथ को एकदम पीछे ले जाओ। इसी प्रकार से फिर दायें हाथ को घुमाकर पीछे ले जाओ और बायें हाथ की अँगुलियों से दायें पैर के अँगूठे को छुओ। इस तरह बराबर चक्राकार घूमते रहो। कहीं रुकने की आवश्यकता नहीं है।

इस क्रिया को पन्द्रह मिनट तक करना चाहिए। इसके करने से गृहणी नाड़ी अपनी यथार्थ स्थिति में रहती है। मन्दाग्नि की निवृत्ति हो जाती है और शरीर की सम्पूर्ण नस नाड़ियाँ सशक्त व सचेत होकर काम करने लगती हैं और शरीर में पूर्ण रूपेण रक्त-रस का संचार होने लगता है। हमारे शरीर के अन्दर नस व नाड़ियों का एक जाल बिछा है और उन्हीं के द्वारा शरीर के सभी अङ्गों का संचालन होता है। नाड़ियों के कमजोर होने से अनेक रोग हो आया करते हैं। इस बात को समझने के लिए शरीर रचना पर विचार करना आवश्यक है।

किसी कार्य का लाभ पूरा-पूरा तब तक नहीं दिखाई नहीं दे सकता जब तक उसको करने वाला उसका कारण और हेतु अच्छी तरह नहीं जान जाता। किसी भी यन्त्र को एक घड़ी ही को लीजिए, उस पर अच्छी तरह ध्यान दीजिए तो आपको मालूम हो जायेगा कि इसके सभी कल-पुर्जे या चक्के अपनी गति के लिए भी एक-दूसरे पर निर्भर हैं और यदि एक स्थान का दाँता टूट जाता है या उसका चक्का ढीला पड़ जाता है अथवा यदि वे चक्के जिस धुरी पर घूमते हैं वहीं खिसक जाती है तो सारे कल पुर्जों के कार्य में गड़बड़ी पैदा हो जाती है और यदि उसका उपचार नहीं किया गया तो अन्त में घड़ी बन्द ही हो जाती है। यदि मनुष्य के बनाये यन्त्र की यह अवस्था है तो ईश्वर निर्मित इस सर्वश्रेष्ठ कारीगरी वाले यन्त्र में भी यही बात लागू होती है।

हमने इस मानव शरीर की उपमा एक यन्त्र से दी है। निःसन्देह यह एक यन्त्र ही है और तब तक तो यह यन्त्र अवश्य है जब तक इसका नित्य का कार्यक्रम चल रहा है। परन्तु यह भी समझ रखना चाहिए कि यह केवल यन्त्र ही नहीं है बल्कि यह एक चैतन्य पदार्थ, एक जीवित शक्ति तथा एक कार्यक्षम, बुद्धि सम्पन्न जीव है। जो मनुष्य अपनी रचना को जानकर कोई साधन करता है

यह अधिक सफलता प्राप्त करता है। जीवन तत्त्व साधन करने वालों को भी इसकी क्रियाओं को करते समय यह भावना करनी चाहिए कि अमुक क्रिया से अमुक अङ्ग पुष्ट व सचेतन हो रहे हैं और उनके रोग दूर होकर, अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो रहे हैं। जीवन तत्त्व साधन की आठवीं क्रिया नाड़ी संस्थान से सम्बन्ध रखती है। अतः उनके बारे में हम विशेष जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करें।

नाड़ी संस्थान—

मानव जीवन में यन्त्रों या तन्तुओं के ऐसे समूह हैं जो साधारणतः कार्य किया करते हैं। इन्हें संस्थान (System) कहते हैं इस तरह जो यन्त्र पाचन क्रिया का कार्य करते हैं उन्हें पोषण संस्थान (Digestive System) कहते हैंऔर इनके अन्तर्गत ही उदर, गह्वर, यकृत ग्रन्थियां, प्लीहा आदि हैं। अब ये यन्त्र जिनसे गति, भाव या चेतना प्रभृति प्राप्त होती है। उन्हें नाड़ी या स्नायु संस्थान (Nervous System) कहते है। नाड़ी संस्थान के दो भाग हैं।

(1) सोषुम्न यामा मस्तिष्क मेरुदण्ड सम्बन्धी नाड़ियां।

(2) सांवेदानिक नाड़ियाँ (Sympathetic (nervous System)।

सांवेदानिक नाड़ियों से पोषण यन्त्र, ग्रन्थियाँ तथा रक्तवाहिनियों की स्नायु प्राप्त होते हैं। ये सोषुम्न नाड़ियों से मिली हुई हैं तथा इनके दो घर होते हैं। जो कशेरुकाओं के दोनों ओर लगे रहते हैं। प्रत्येक घड़ में लम्बे-लम्बे नाड़ी के गुच्छे हैं जिन्हें नाड़ी के गंड (Ganglia) कहते हैं। नाड़ी सूत्र के सिरे जो नाड़ी गंड से मिल गए हैं वहीं नाड़ी जाल (Plexuses) है। इन्हीं को चक्र भी कहते हैं। इनका वर्णन हम अगले लेख में करेंगे।

सोषुम्न नाड़ी संस्थान ये हैं।

(1) मस्तिष्क।

(i) बृहत मस्तिष्क (Cerebrum)।

(ii) लघु मस्तिष्क (Cerebellum)।

(2) मस्तिष्क सेतु (Poro Verstic)।

(3) सुषुम्ना

(4) नाड़ीधड़, नाड़ी सूत्र, नाड़ी पुच्छ।

बृहत मस्तिष्क—

दो भागों में बँटा है। इन दोनों भागों के मध्य में एक दरार (Sagital Fissures) रहती है। इसके द्वारा मस्तिष्क दो भागों में बँटता है। उन भागों को मस्तिष्क गोलार्द्ध। (Cerebral hemisphere) कहते हैं। ये दोनों दाहिनेऔर बायें दोनों ओर रहते हैं। दाहिने गोलार्द्ध को (Right hemisphere) और बायें गोलार्द्ध को (Left hemisphere) कहते हैं परन्तु ये दोनों भागभी नीचे से जुड़े हैं। जिस अंश से जुड़े हैं उसे महा संयोजक (Corpus callosum) कहते हैं। बृहत् मस्तिष्क का भीतरी पटल धुमैला या मटमैले रंग के पदार्थ या सेलों से बना है। इसमें कहीं उभार और कहीं गहराई रहती है। उभरे हुए स्थान को ऋांक (Convolution) और गहरे स्थान को सीता (Sulcus) कहते हैं। इसका भीतरी भाग सफेद पदार्थ अर्थात् नाड़ी तन्तुओं से बना है। दूसरे अंश को वल्क (Cortex) कहते हैं। मस्तिष्क का बाह्य भाग सेलों से और भीतरी नाड़ी तन्तुओं से बना है। प्रत्येक गोलार्द्ध का नीचे वाला भाग खोखला रहता है और दोनों गोलार्द्धों के मध्य में एक पतला पदार्थ सा रहता है।

लघु मस्तिष्क—

इसमें भी दो गोलार्द्ध होते हैं और यह

बृहत् मस्तिष्क के नीचे रहता है। इसमें अनेक सीतायें होती हैं जो ज्यादा गहरी होती हैं। इसके तीन भाग हैं। दो गोलार्द्ध और नीचे का मध्यांश। इन दोनों के बीच में एक डंठल की तरह (Corpus dentatum) रहता है। इसमें तीन स्तम्भ होते हैं।

मस्तिष्क हेतु—

यह लघु मस्तिष्क के सामने का एक गोल घूमा हुआ भाग है। यह सफेद है। यहीं से सुषुम्ना, लघु मस्तिष्क और बृहत् मस्तिष्क में जाने वाली नाड़ियाँ सब निकली हैं। सेतु से नीचे छोटे-छोटे दो गोल दाने होते हैं। यह वृन्त पिण्ड (Corpus mammillare) कहलाते हैं उसके सामने एक बृहत् पिण्ड (Hiphosis), फिर दृष्टि योजिका (Optichiasm) और उसके बाद घ्राण पथ (**Medula oblongata**) है।

सुषुम्ना—

यह सुई की शक्ल की एक नाड़ी है। इसका लगभग एक इंच लम्बा सिरा ऊपर की ओर है। इसकी मोटाई सर्वत्र एक समान नहीं है। ऊपरी भाग सफेद और भीतरी धुमैला है इसके मध्य में एक छिद्र है उसमें एक नाली रहती है जो मस्तिष्क के चतुर्थ कोष्ठक से जा मिली है तथा इसका दूसरा सिरा मेरुदण्ड की मध्य प्रणाली में है। मेरुदण्ड एक डेढ़ फुट लम्बी हड्डी है और इस समूचे मेरुदण्ड में छिद्र है। इससे नाड़ियों के जोड़े निकले हैं। इसका बाह्य भाग धूसर रंग के पदार्थ से और भीतरी भाग सफेद रंग के पदार्थ से भरा रहता है और मध्य में सौषुम्न पथ है।

नाड़ी या स्नायु—

मस्तिष्क शरीर के विभिन्न भागों में संवाद पहुँचाने का काम ये नाड़ियाँ करती हैं। नाड़ियाँ निम्नलिखित भागों में बाँटी गई हैं :

(1) मस्तिष्क नाड़ियाँ (Cranial neve) वे हैं जो लघु मस्तिष्क के भीतर पटल से निकली हैं। इनके दो जोड़े हैं। एक-एक प्रत्येक पार्श्व में रहते हैं।

(2) सौषुम्न नाड़ियाँ (Spinal nerve) मेरुदण्ड या सुषुम्ना के दोनों पार्श्वों से नाड़ियों के 31 जोड़े निकले हैं। इन्हें सुषुम्न नाड़ियाँ कहते हैं।

मस्तिष्क नाड़ियाँ नीचे लिखी हैं :

[क] घ्राण नाड़ियाँ (Olfatory nerves) इनसे घ्राण शक्ति प्राप्त होती है।

[ख] दृष्टि नाड़ियाँ (Optical nerves) चक्षु गोलक के पीछे से घुसती है और चक्षु चित्र पट के भीतरी स्तर में फैल जाती है। इससे देखने की शक्ति प्राप्त होती है।

[ग] नेत्र चालिनी नाड़ियाँ (Oculomotor nerve) इससे आँख के कोये में गति प्राप्त होती है।

[घ] नेत्र चालिनी द्वितीया (Trachlear) इससे आँख की पलकें ऊपर की ओर उठती हैं।

[ङ] त्रिशाखा नाड़ी (Trigeminal nerves), इससे चेहरा निचला जबड़ा, नाक मुँह जीभ का दो-तिहाई भाग और दांतों में पैदा होती है। इनसे चबाने और कुचलने की शक्ति आती है।

[च] छटा जोड़ा (Abduccns) इनसे आँख ऊपर की ओर उठती है।

[छ] मौखिक की नाड़ियाँ (Facial nerves) इनसे खोपड़ी और चेहरे की पेशियों में गति-शक्ति प्राप्त होती है और ये जीभ के लिए स्वाद प्रदान करती है।

[ज] श्रावणी नाड़ी (Auditory nerves)

इससे सुनने में सहायता मिलती है तथा स्थिति और शरीर की समता रक्षा में सहायता प्राप्त होती है।

[झ] जिह्वा कण्ठ नाड़ियाँ (Glosso pharyngeal) इनसे कण्ठ की पेशियों में तथा जीभ में रस का स्वाद लेने की शक्ति प्राप्त होती है।

[ञ] दशमी नाड़ियाँ (Vagus nerve) ये दोनों ही बड़ी नाड़ियाँ हैं। इनसे स्वर यन्त्र, टेंटुआ, फेफड़ा, आमाशय, पाकाशय, यकृत आदि में गति प्राप्त होती है।

[ट] एकादशी नाड़ियाँ (Spinal accessory) यह पीठ और गर्दन की पेशियों को गति देती है तथा कितनी ही माँस-पेशियों में गति शक्ति प्रदान करती है।

[ठ] द्वादशी नाड़ी (Hypoglossal) इससे जीभ की पेशियों में गति मिलती है।

सौषुम्न नाड़ियाँ—

सुषुम्ना से नाड़ियों के 31 जोड़े निकले हैं। ये सुषुम्ना से दो ओर से जुड़ी हैं और दोनों ओर के छिद्रों से निकलकर समस्त शरीर में फैल गई हैं। जिन दो भागों में जुड़ी रहती हैं उन्हें पूर्व मूल (Anterior) और पिछले को पश्चिम मूल (Posteriot) कहते हैं।

सौषुम्न नाड़ियाँ नीचे लिखी हैं :

8 कंठ देशीय

12 वक्ष देशीय

5 कटि स्थानीय

5 त्रिकास्थि स्थानीय

1 गुदास्थि

नाड़ी संस्थान का पूरा हाल चीर-फाड़ के बिना पूरा नहीं मालूम हो सकता, तथापि उनके कार्यों को संक्षेप में बताया जाता है। वृहत् मस्तिष्क में तीन प्रधान कार्य होते हैं : ज्ञान, भाव और इच्छा।

मतलब यह है कि लोगों में तब तक ही ज्ञान रहता है जब तक मस्तिष्क जीवित है और यह चेतना मस्तिष्क में रक्त की उपस्थिति पर निर्भर करती है। स्मरण के सभी कार्य मस्तिष्क की क्रिया के ही परिणाम हैं। भाव केवल ग्रहण किया हुआ पदार्थ है। उदाहरण के लिए यदि हम चूना खा जायें तो दर्द होता है परन्तु मस्तिष्क में भी बेचैनी होती है सभी पेशियों की गतियों पर मस्तिष्क का शासन रहता है। हम अपने हाथ को हिलाने या रुक जाने की आज्ञा दे सकते हैं। ग्रन्थियों की क्रिया भी इसी तरह मस्तिष्क की क्रिया है। यहाँ तक कि बढ़िया भोजन देखने पर हमारे मुँह में पानी भर आता है। इस तरह की गति को पारावर्तिक क्रिया कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक ऐसा भी भाव ग्रहण पटल है जो मस्तिष्क से अलग है जिसमें जब उत्तेजना होती है तो वह भाव मस्तिष्क में भेज देता है और उसके बाद मस्तिष्क पेशियों व ग्रन्थियों को जैसा आदेश देता है वैसा ही वे कार्य करती हैं। लघु मस्तिष्क रक्त में पेशियों की गति का सहयोग देकर समता की रक्षा करता है। सुषुम्ना से निम्नलिखित क्रियायें होती हैं :

(1) हृदय की धड़कन।

(2) रक्त वाहिनियों में खिचाव बनाये रखना।

(3) श्वास-प्रश्वास की क्रिया।

(4) निगलना, बोलना, लाल स्राव-प्रसव।

मेरुदण्ड से दो क्रियायें होती हैं।

(क) शरीर सम्बन्धी कार्य :

(1) पेशियों की शक्ति में बल भरने का कार्य।

(2) मल द्वार की पेशी की क्रिया को ठीक रखना।

(3) मूत्राशय ग्रीवा व मल द्वार ग्रीवा की क्रिया की रक्षा।

(4) जरायु में संकोचन पैदा करना।

(5) लिंग में उत्तेजना पैदा करना।

[ख] शरीर के किसी स्थान अथवा यन्त्र से जो भाव या अवस्था मालूम हो उसकी सूचना मस्तिष्क को देना।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे शरीर में जितने क्रिया-कलाप होते हैं उनका शासनकर्ता नाड़ी संस्थान है। यदि नाड़ियां शक्तिहीन हो जावें या अपना कार्य सुचारु रूप से न करें तो शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग रोगी हो जाते हैं। गठिया वात, वायु पक्षाघात आदि भयङ्कर रोग हो जाते हैं। नाड़ी संचलन की क्रिया ऐसी प्रभावशालिनी है कि इसको करने से समूचे नाड़ी संस्थान में बिजली की लहर दौड़ जाती है। वे सचेत होकर अपना काम यथार्थ रूप से करने लगती हैं यदि नाड़ी संस्थान का कोई भाग अकर्मण्य हो गया है तो इस क्रिया से वहां पर बराबर झटके लगते हैं और थोड़े दिनों में वे ठीक होकर काम करने लगते हैं।

हमारे मेरुदण्ड में हड्डियों की लड़ी जुड़ी हुई हैं जिन्हें केशरुका [Vertebeg] कहते हैं। ये संख्या में 22 हैं अर्थात्

7 गर्दन में
12 पृष्ठ भाग में
5 कटि प्रदेश में
5 त्रिकास्थि में
3 गुदास्थि में

वैज्ञानिकों का कहना है कि जब शरीर में कोई रोग होता है तो कोई न कोई केशरुकायें विकृत या टेढ़ी हो जाती हैं। योगसाधन में बताया जाता है कि आसन लगाते समय मेरुदण्ड को सीधा रखना चाहिए। जो लोग मेरुदण्ड को झुकाकर बैठते हैं उनकी केशरुकायें विकृत हो जाती हैं। मेरुदण्ड जब तक सीधा व लचीला रहता है तब तक वृद्धावस्था नहीं आती है। अधिक आयु होने पर ये हड्डियां कड़ी पड़ जाती हैं और उनमें टेढ़ापन आ जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत एक आस्टोपैथिक चिकित्सा प्रणाली है। इस चिकित्सा पद्धति को जानने वाले भारत में कुछ ही डाक्टर हैं विदेशों में इसके अच्छे-अच्छे डाक्टर हैं और इस प्रणाली के द्वारा बड़े भयंकर से भयंकर रोग भी दूर किये जाते हैं। ओस्टोपैथी वालों का कहना है कि शरीर के किसी भाग में किसी प्रकार का रोग होने पर मेरुदण्ड की एक या अधिक केशरुकायें विकृत व टेढ़ी हो जाती हैं और जब तक उन्हें ठीक नहीं किया जायेगा तब तक रोग जा नहीं सकता है। आस्टोपैथी में चिकित्सक रोगी को लिटाकर उसकी मेरुदण्ड की हड्डियों पर हाथ की अंगुलियों से मालिश करता है। रोग के लक्षणों को देखकर चिकित्सक जान लेता है कि कौन-सी केशरुका टेढ़ी हो गई है चिकित्सक अपनी कुशल अँगुलियों से उन हड्डियों को यथार्थ स्थिति में ले आता है और धीरे-धीरे

रोग दूर हो जाता है। मालिश का कार्य दो चार या दस दिन तक करना पड़ता है। रोग की जड़ता के अनुसार उसकी आस्टोपैथिक चिकित्सा की जाती है।

आस्टोपैथी की चिकित्सा सीखने के लिए डाक्टरों को विदेश जाना पड़ता है तथा चार-पांच साल का कोर्स पास करके वे इस योग्य बनते हैं कि रोगी का इलाज कर सकें। इसके बाद उनकी अंगुलियां इतनी सक्षम् हो जाती हैं कि रोग की जड़ का पता लगा लेवें और उनको विधिपूर्वक मालिश करके ठीक कर देवें।

हमारे महा प्रभुजी ने जीवन तत्व साधन की आठवीं क्रिया नाड़ी संचालन का आविष्कार करके यह महान् उपकार किया है कि मनुष्य बगैर किसी आस्टोपैथ की शरण में गये स्वतः अपना इलाज करके स्वस्थ बन जावे। नियमित रूप से पूर्ण समय तक नाड़ी संचालन की क्रिया करते रहने से विकृत केशरुकायें सीधी व यथार्थ स्थिति में आ जाती हैं और रोग अपने आप दूर हो जाता है। इस क्रिया को बराबर करने वाले साधक के मेरुदण्ड की केशरुकायें सीधी बनी रहती हैं और उनमें कोई टेढ़ापन नहीं आता। अतः किसी रोग के होने की सम्भावना नहीं रहती है। यह क्रिया बड़ी विचित्र लाभकारी व प्राणदायिनी है क्योंकि नाड़ी संस्थान के ठीक रहने पर जीवनी शक्ति पर्याप्त रूप में प्राप्त होती है।

उद्‌बोधन

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को बतरंगी कर दूर,
एक रंग तन, मन, वाणी में भर ले तू भरपूर।
प्रेम पसार न भूल भलाई, बैर-विरोध विसार,
भक्ति-भाव से भज शंकर को धर्म दया उर धार ॥1

देख कुदृष्टि न पड़ने पावे पर-वनिता की ओर,
विवश किसी को नहीं सुनाना कोई वचन कठोर।
अबला, अबलों को न सताना पाय बड़ा अधिकार,
भक्ति-भाव से भज शंकर को धर्म दया उर धार ॥2

आय न उलझें मतवालों के छल, पाखण्ड, प्रमाद,
नेक न जीवन-काल बिताना, कर कोरे बकवाद।
यदि मुक्ति ज्ञान बिन उनको जान अजान, लबार,
भक्ति-भाव से भज शंकर को धर्म दया उर धार ॥3

—नाथूराम शङ्कर शर्मा

☐ श्री दर्शनानन्द

योग शास्त्र में मन का विश्राम

योग में कहा है कि जब मन पर सत्व गुण का प्रभाव रहता है तो उसी स्थिति को ही मानसिक पवित्रता कहते हैं या उस स्थिति को मन की एकाग्रावस्था कहते हैं। अर्थात् मन रज एवं तम गुण का नाश करके सत्वगुण की वृद्धि करने के पश्चात मानसिक पवित्रता की जा सकती है अष्टांग योग में यम और नियम ही मानसिक पवित्रता के साधन हैं जब साधक इनका पालन करता है तब सत्वगुण की वृद्धि होती है जैसे साधक मिताहार करता है तथा साथ ही साथ तप करता है तो आन्तरिक एवं शारीरिक शुद्धि में वृद्धि प्राप्त होती है तप के परिणामस्वरूप रज एवं मिवृत्तियां कम होती हैं विभिन्न प्रकार के आसनों के प्रभाव से शारीरिक शक्ति एवं दृढता की वृद्धि होती है मानसिक पवित्रता का साधन प्राणायाम भी है इसके द्वारा मन स्थिर हो जाता है एवं त्रिमल (वात पित्त कफ) का नाश होता है। फलस्वरूप शारीरिक तथा मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है तथा प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों के विकारों का नाश होता है तत्पश्चात् मन को धारणा के द्वारा मन पूर्ण रूप से शान्त होता है इसके अतिरिक्त षट्कर्म आदि पवित्रता के अचूक साधन हैं।

निष्कर्ष—अतः उपरोक्त बातों से पता चलता है कि मन के पवित्र करने के लिए यम नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण एवं ध्यान का पालन या अभ्यास किया जाता है तत्पश्चात् मन पूर्ण रूप से विकार मुक्त होकर शान्त हो जाता है।

विशेष—इन सब बातों के ऊपर एक विशेष बात जो अनुभव एवं शास्त्रों के आधार पर अकाट्य सत्य के रूप में कही जा सकती है वह सिद्ध सद्गुरु देव की कृपा है सद्गुरु कृपा के विषय में अधिक आगे कहेंगे किन्तु यहां इतना ही पर्याप्त है कि सद्गुरु कृपा से चंचल मन शान्त हो जाता है यह सर्वोत्तम उपाय है किन्तु सद्गुरु कृपा उनकी प्रसन्नता पर निर्भर है उनको प्रसन्न करने के उपाय यदि साधक करे तो यह सहज ही हो सकती है।

दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करें, दुःख काहे कूं होय॥

× × ×

राम नाम मणि दीप धरि, जीव देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरो, जो चाहत उजियार॥

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

पढ़ो, समझो और करो

संसार मानो एक दीर्घ स्वप्न है ऐसा समझो। जब तक है, व्यावहारिक भाव से सत्य मानकर अपना कर्तव्य किये चलो। परन्तु यह धारणा भी बनाये रखो कि त्रिकाल में सत्य, नित्य वस्तु, एकमात्र भगवान् ही हैं, जिनकी प्राप्ति न होने पर्यन्त परम सुख, शान्ति और मुक्ति नहीं। इतना दुर्लभ मानवजीवन पाकर—ऐसी सुविधा पाकर—भी यदि उन्हें पाने का प्रयत्न नहीं किया तो सभी व्यर्थ है।

× × ×

सदा होशियार—सजग—रहो। अपने मन पर कभी विश्वास नहीं करना। हजार उच्चावस्था प्राप्त होने पर भी अपने को जितेन्द्रिय नहीं समझना, कारण फिर भी पतन हो सकता है। पाप, सूक्ष्म भाव से कभी-कभी धर्म का रूप धारण कर, कभी दया का रूप धारण कर, कभी मित्र का रूप धारण कर तुम्हें भुलाकर वश में करने की चेष्टा करेगा। कब भुलावे में पड़कर परास्त हो जाओगे, समझ भी नहीं सकोगे। और जब समझ पाओगे, तब शायद सही बिन्दु पर लौटना ही असम्भव हो जाय।

× × ×

अन्य किसी आश्रम के नियम न निभा सको तो शादी करके गृहस्थ होना ही अच्छा है, आत्मिक उन्नति साधन का यह भी एक मार्ग है। किन्तु ब्रह्मचारी और संन्यासी यदि काम-कांचन का गुलाम हुआ तो वह अपने इहकाल और परकाल दोनों से भ्रष्ट हो जाता है। संसार त्यागी लोग और विधवाएँ, अन्ततः अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करें। इसमें असमर्थ होने पर विवाह करना धर्मानुकूल है—अपने और परार्थ कल्याण के लिए। सेण्ट पाल ने बाइबिल में कहा है, "कामाग्नि में दग्ध होने की अपेक्षा विवाह करना अच्छा है।"

× × ×

कितने ही दीक्षा के बाद गुरु को कहते हैं, "हम तो कुछ भी नहीं कर सकते, भविष्य में आप पर सब भार डालकर हम तो मुक्त हैं" इसका मतलब धोखा देना, कुछ न करने का अभिप्राय। धर्मलाभ क्या इतनी सहज और सस्ती चीज है? "जैसा भाव वैसा लाभ," और मुँह से कह देने से ही क्या भार समर्पित करना हो गया? यह बहुत ही साधनासापेक्ष है। अपने अहं की बलि देकर पूर्णतः आत्मसमर्पण करना पड़ता है। दो पैसे के रोजगार के लिए रातदिन मारे-मारे फिर सकते हो, आहार-निद्रा परित्याग करके खट-पट कर सकते हो और जब ज्ञानभक्ति-प्राप्ति की बारी आय तो "हमसे तो कुछ नहीं बनता।" वाह! खूब मजे की बात है। दिन-ब-दिन, मास-दर-मास, साल-दर-साल, काया-मन-वाणी से यथासाध्य उपासना करने पर वस्तु प्राप्ति होती है। "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"—मुक्ति का अन्य मार्ग नहीं।

☐ डा० गयाप्रसाद शर्मा

'सब जगह मौजूद है पर नजर आता नहीं'

हमारे निगम और आगमों के सिद्धान्तानुसार अखिल सृष्टि कर्ता ईश्वर सब जगह व्याप्त है वह कण-कण जर्रे-जर्रे में मौजूद है। भीतर से भीतर और बाहर से बाहर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ परमात्मा न हो। श्रुति कहती है।

सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात
स भूमि छ सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठ दशाङ्गुलम्

उस परम पुरुष के सहस्रों मस्तिक सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्व की समस्त भूमि को सब ओर से व्याप्त करके इससे दश अंगुल ऊपर स्थिति हैं। अर्थात् वे ब्रह्माण्ड में व्यापक होते हुए उससे परे भी हैं जिस प्रकार पाँचों तत्व अग्नि, वायु, आकाश, जल और पृथ्वी शरीर में व्याप्त हैं और इससे अलग भी हैं। ऐसे ही परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक भी हैं और उससे अलग भी है। श्रीकृष्ण भगवान ने श्रीमद्भगवतगीता में कहा है :

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
गीता अ. 7/7

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
गीता अ. 13/13

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
गीता अ. 13/15

हे धनंजय ! मेरे से सिवाय किंचितमात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत सूत्र में सूत्र की मणियों के सदृश मेरे में गुथा हुआ है,फिर आगे कहा—वह सब ओर हाथ पैर वाला और सब ओर नेत्र सिर मुख वाला तथा सब ओर कान वाला है क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है वह चराचर सब भूतोंके बाहर भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर रूप भी वही है। वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर में भी स्थित वही है। अतः श्रुति भी कहती है :

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
(ईशा. अ. 5)

अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है। दूर भी है और समीप भी है और इन सब के बाहर भी है।

इस सिद्धान्त के अनुसार पाश्चात्य विद्वान भी मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर है और हर जगह ईश्वर है।

अब प्रश्न यह उठता है कि परमात्मा है तो दिखलाई क्यों नहीं पड़ता है। इसके कथन में किसी कवि ने लिखा है :

बनाया जिसने यह आलम,
वह खुद जाना नहीं जाता।
ये दीदा देखते सब पर,
नहीं दीदा नजर आता॥

अर्थात् जिसने यह संसार बनाया है वह परमात्मा स्वयं जाना नहीं जाता है जैसे नेत्र समस्त वस्तुओं को देखते हैं परन्तु स्वयं नेत्र दिखायी नहीं पड़ते हैं :

कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूंढे बन मांहि।
ऐसे घट-घट राम है दुनिया देखे नांहि॥

जिस प्रकार हिरन के कस्तूरी तो नाभि में रहती है परन्तु वह वन में उस कस्तूरी को खोजता फिरता है लेकिन उसको प्राप्त नहीं होती है। ऐसे ही प्रत्येक हृदय के अन्दर भगवान है लेकिन दिखलाई नहीं देते हैं। गीता में कहा गया है :

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में है परन्तु फिर भी वह दिखाई नहीं देता है ईश्वर के दिखलाई देने के विषय में एक दृष्टान्त में बहुत अच्छी तरह से समझाया गया है। एक बार अकबर बादशाह ने बीरबल से पूछा अगर तुम्हारा ईश्वर है तो दिखलाई क्यों नहीं देता है इस पर बीरबल ने कहा महाराज सात दिन का अवकाश दीजिये उसके बाद इसका उत्तर दूंगा। छः दिन व्यतीत होने पर बीर बल अपने घर में सुस्त बैठे थे। बीरबल के लड़के ने देखा कि आज पिताजी उदास क्यों बैठे हुए हैं तो लड़के ने पूछा कि पिताजी किस कारण से इतने उदास दिखलाई दे रहे हो। बीरबल कहने लगा बस एक प्रश्न बादशाह ने पूछा है उसका उत्तर समझ में नहीं आ रहा है इसलिए बदन पर कुछ उदासी छा गयी है। लड़के ने कहा कि वह प्रश्न क्या है जिसका उत्तर आपकी समझ में नहीं आ रहा है। तब बीरबल ने कहा बादशाह ने प्रश्न पूछा कि ईश्वर है तो दिखलायी क्यों नहीं देता है इस पर लड़के ने कहा पिताजी इसका उत्तर मैं बतला दूंगा तब बीरबल ने कहा कि बतलाओ। लड़का कहने लगा कि बादशाह के सामने बतलाऊंगा निश्चित दिन को बीरबल अपने पुत्र सहित शाही दरबार में पहुँचे तब बादशाह ने कहा कि बीरबल हमारे प्रश्न का उत्तर दो। बीरबल कहने लगे आपके प्रश्न का उत्तर तो यह हमारा लड़का ही दे देगा। बादशाह ने कहा इतना कठिन प्रश्न और उत्तर यह नन्हा-सा लड़का दे देगा। अच्छा लड़के बताओ ईश्वर है तो दिखलाई क्यों नहीं देता है। लड़का कहने लगा—बादशाह आप नये-नये ही भारत में आये हो इसलिए भारत की संस्कृति को नहीं जानते हो यहाँ जब कोई किसी से मिलने जाता है तब उसे खिला-पिला के उसका सत्कार करते हैं उसके बाद प्रश्न पूछते हैं। एक दम प्रश्न पूछना भारत की सभ्यता नहीं है। बादशाह कुछ सहम गया अच्छा लड़के बताओ तुम क्या खाओगे तब लड़का कहने लगा—महाराज मैं बालक हूँ मुझे दूध ही अच्छा लगता है अतः दूध ही पीऊँगा। एक कटोरा दूध मँगाया गया। दूध आ गया. बादशाह ने कहा—ले लड़के दूध पी ले. कटोरा को हाथ में उठाया. इधर-उधर झांक के देखने लगा और उँगली से कुछ टटोलने लगा। तब बादशाह ने कहा-लड़के देख क्या रहा है दूध पीता क्यों नहीं। लड़के ने कहा-सुना है दूध में मक्खन होता है उसीको देख रहा हूँ और ढूंढ रहा हूँ तब बादशाह हँसकर बोला तुम अभी लड़के हो इसलिए नहीं जानते हो। दूध में मक्खन तो है लेकिन यह मक्खन दूध के कण-कण में व्याप्त है इसलिए दिखलाई नहीं देता, अगर इस मक्खन को देखना है तो दूध में दही का जामन लगाना पड़ेगा और रई से मथना पड़ेगा तब इसमें से मक्खन निकलेगा। वह लड़का कहने लगा तुम्हारे प्रश्न का उत्तर हो गया कि परमात्मा है और वह कण-कण में व्याप्त है इसलिए दिखलायी नहीं दे रहा है अगर परमात्मा को देखना है तो मन में ओउम् का जामन लगाना पड़ेगा और ध्यान, धारणा और समाधि से उसको मथना अर्थात् बिलोना पड़ेगा तब हृदय के अन्दर परमात्मा दिखलायी पड़ेगा।

सब जगह मौजूद है पर नजर आता नहीं।
वियोग साधन के बिना कोई तुझे पाता नहीं।

□

● ब्रह्मलीन श्री स्वामी मुक्तानन्द जी

साधना काल के मेरे अनुभव

(पूर्व प्रकाशित से आगे)

रक्त-वर्ण ज्योति में दिखने वाले कई तरह के दृश्य अथवा क्रिया-कलाप अब श्वेत वर्ण की ज्योति में भी देखे जा सकते थे।

लाल और श्वेत ज्योतियों के बाद मुझे कृष्ण ज्योति दिखाई पड़ी जो अंगुष्ठ के अर्ध-पूर्व के परिमाण बराबर थी, यह ज्योति कभी आती और कभी जाती थी। प्रकट होने पर यह दो-तीन घण्टे तक बनी रहती। इस कृष्ण-वर्ण ज्योति में मेरा चित्त पूर्णतया तन्मय और शान्त हो जाता था। मैं इसमें देश-देशान्तरों, समुद्रतल की गतिविधियों, ऋषि-मुनियों तथा इतर लोकों के अनेकानेक दृश्य देखता था।

जैसे एक के बाद एक ज्योतियाँ दिखाई गईं, वैसे-वैसे सुख भी बढ़ता गया। यदि कृष्ण ज्योति में मुझे कोई दीखता तो वह स्वप्न या दृष्टान्त में अवश्य प्रकट होता था, चाहे वह कहीं पर भी हो। मेरे काली ज्योति को देखते हुए यदि कोई समीप आ जाता तो उसका भी अपने आप ध्यान लगने लगता। इस तमाम क्रिया-कलाप में शक्ति सर्वथा स्वतन्त्र होकर काम कर रही थी।

साक्षीभाव का उदय

कृष्ण ज्योति के बाद नील ज्योति के दर्शन होने लगे। यह अत्यन्त सुन्दर और छोटे मोती के आकार की थी। अरहर की दाल से कुछ छोटी यह ज्योति मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती किन्तु जब कभी मैं उसे देखने की कोशिश करता वह झट से अदृश्य हो जाती थी। वह इतनी चित्ताकर्षक थी कि ध्यान में दिखने पर मैं उसी को देखा करता था। उसको देखते हुए मेरा मन असीम आनन्दोल्लास से भर उठता था। काली ज्योति तो उसके सामने बिलकुल फीकी और नीरस लगती थी।

उस समय ऐसा भाव उदय हुआ कि मैं शरीर से अलग हूँ। मैं हर बात को साक्षी-भाव से देखने लगा। मेरी यह अवस्था सच-मुच अनोखी तथा अपूर्व थी। मुझे रात भर ध्यान करना और आन्तरिक संगीत सुनना अच्छा लगता था। नींद भी बड़ी सुखद आती थी। ध्यान में नींद का-सा अनुभव होने पर शरीर आसन में अचल ही रहता था। आगे को झुकता अथवा गिरता नहीं था। मैं लेट-कर साधन करने की स्थिति में भी था, तब चित्तवृत्ति का पूर्णतया निरोध हो जाता था। नील ज्योति और संगीत जैसे सहगामी बन गये थे। साथ-साथ प्रकट होते थे। मुझे वंशी 'वंशी' मृदंग, दूर का मेघगर्जन और नदी का कल-कल प्रवाह सुनाई देता था।

पीछे तो जागृत अवस्था में भी खुली

आँखों से मैं नील ज्योति को देखता था। किसी अपरिचित व्यक्ति के नजदीक आते ही जब यह चमकती तो मैं जान जाता कि यह एक अच्छा आदमी है और प्रेम करने योग्य है। मेरे व्यावहारिक जीवन में भी कुछ इसी के संकेत मिलते थे। उदाहरण के रूप में यदि मैं गुस्से में पीटने-फटकारने अथवा किसी के प्रति कठोर शब्द कहने को तैयार होता और मुझे नील ज्योति दीख जाती तो मेरा क्रोध एकदम शान्त हो जाता था और मैं अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाता था। अन्य अवसरों पर यदि मुझे किसी प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' या 'ना' कहना होता तो नील ज्योति दीखने पर मैं 'हाँ' ही कहा करता था।

इस साधना-काल के दौरान मैं अपने सिर में भारीपन महसूस करता और मेरी आँखें लाल हो जाती थीं। मैं ऐसी अवस्था में रहता जिसमें भाँग तथा गाँजे से भी तेज नशा छाया रहता था।

सहस्रार में

नील ज्योति के दर्शन से पूर्व जागृत कुण्डलिनी शक्ति निम्न चक्रों में क्रियाशील थी किन्तु अब तो सभी कुछ सहस्रार में ही घटित होने लगा। सहस्रार में शून्य स्थान है जिसे चिदाकाश कहते हैं। यह चिदाकाश ब्रह्माकाश से भी बड़ा लगता है। मैं इसमें मृदु तथा गहरे नीले रंग की रोशनी देखता था। उसे देखने मात्र से ही काफी समाधान हो जाता था और मैं यह सोचने लगता था कि कहीं यही मेरा अभीप्सित लक्ष्य तो नहीं है। इस प्रकाश में कई प्रकार के मन्दिरों, देवी-देवताओं, सिद्धलोक, ऋषिलोक तथा न जाने किन-किन दृश्यों के दर्शन करता था।

धीरे-धीरे मैं अपनी सीमित स्वरूप वाली जीवदशा को भूलने लगा और 'शिवोऽहम्' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' का भाव मेरे भीतर उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। मुझे वैकुण्ठ और यहाँ तक कि रामलीला के दर्शन भी हुए किन्तु यह साधना की अन्तिम प्राप्ति न होकर केवल दिव्य दृश्य मात्र थे। सत्य दर्शन का फल तो हृदय-ग्रन्थि का भेदन है।

साधना की अन्तिम प्राप्ति अथवा सत्य-बोध तो तभी होता है जबकि अज्ञान-ग्रन्थि का भेदन हो जाता है। इसी तरह छह वर्ष बीत गये।

साक्षात्कार

नील ज्योति के दर्शन के काफी समय पश्चात् बिन्दु भेद अथवा आँखों की पुतलियों के बिन्दु का भेदन होता है। बिन्दु-भेद पर सामान्य द्वि-अंगी अथवा दोहरी दृष्टि की अपेक्षा आँखें समान रूप से देखने लगती हैं। बिन्दु-भेद के समय तीन से पन्द्रह दिन तक आँखें दुखती हैं। जैसे षट्चक्र की ग्रन्थियाँ खुलते समय दर्द होता है वैसे ही बिन्दु-भेद के समय आँखें दुखती हैं। इसके लिए दवा लेना मना है। आँखों के गोले घूमने लगते हैं। कुछ समय तक इसी तरह घूमने के बाद दोनों गोलों के बिन्दु केन्द्र में आ जाते हैं। ऐसा होने पर आँखें एक जगह स्थिर होते हुए भी सब ओर देख सकती हैं। यह एक असामान्य प्रक्रिया है। वस्तुतः यह दिव्य दृष्टि का रहस्य है। जो व्यक्त ज्योति दिखाई देती है, वह आँखों के अन्दर होती है लेकिन बाहर दीखती-सी प्रतीत होती है।

बिन्दु-भेद के पूर्व जिस दृष्टि की गति नीचे की ओर होती है वही अब ऊर्ध्व हो जाती है। साधक और योगी की दृष्टि सदा ऊपर की ओर रखना अच्छा लगता है। क्योंकि इस स्थिति में वह सब ओर प्रसरण कर सकती है। यह तुरीया गति है। वस्तुतः ऊर्ध्व दृष्टि प्राप्त होने पर ही वेदान्त के

सूक्ष्म ज्ञान को समझने का सामर्थ्य आता है।

बिन्दु-भेद के साथ कर्ण-भेद भी होता है। उस समय कर्ण मूल में स्थित चक्र खुलने लगता है तदनन्तर जो दिव्य नाद सुनाई पड़ता है उसे उद्गीथ अथवा ओंकार ध्वनि कहते हैं। सारे समय साधक का ध्यान उसी ध्वनि में लगा रहता है। वह इतना आनन्द-दायक होता है कि उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। चिदाकाश में जो परमात्मा का स्फुरण होता है, वह नाद है। इस स्थिति में साधक के सर्वांग में आनन्द की अनुभूति होती है यहाँ तक कि उसकी त्वचा में भी परम सुख का स्पर्श होता है। उसको 'त्रयमेकत्र संयमः' की स्थिति प्राप्त हो जाती है। अर्थात् योग-सूत्र में वर्णित ध्यान, धारण तथा समाधि द्वारा साधक का मन पूर्ण एकाग्रता को पा लेता है। उसे ध्यान में सिद्ध योगिता के दर्शन होते हैं तथा वह उनसे मन्त्र, फल या औषधि अथवा उपदेश प्राप्त करता है।

किन्तु यह सब अनुभव चरम उपलब्धि को लक्ष्य नहीं करते। ये अधिक से अधिक दिव्य साक्षात्कार का एक अंश है। योग की पारिभाषिक शब्दावली में इसे परिचयावस्था अथवा लक्ष्य-प्राप्ति का बोध कहा जा सकता है। अभी तक तो साधक योगाभ्यास करता था किन्तु अब योग में उसकी स्थिति पक्की हो गयी। उसे योग-भूमिका प्राप्त हुई अर्थात् वह साक्षात्कार की भूमिका में है। लेकिन अब तक साक्षात्कार नहीं हुआ।

बिन्दु-भेद और कर्ण-भेद के अनन्तर साधक को इस प्रकार का ध्यान होने लगता है कि वह अपने से भिन्न खुद को देखता है। वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि इन दोनों में से वह स्वयं कौन-सा है। इस तरह का अनुभव प्रतीक-दर्शन कहलाता है। इस समय साधक के शरीर की पूर्ण शुद्धि हो जाती है। वह साक्षी भाव को प्राप्त हो जाता है। मुझे भी तीन माह तक इसी तरह का अनुभव होता रहा।

चिदाकाश में एक मधुमण्डल ज्योति है जिसे चिद् ज्योति भी कहते हैं। आँखों से अभिभूत होकर वह सब ओर प्रसारित हो जाती है। यह वस्तुतः अनन्त कोटि प्रकाश-कणों का समुदाय है। नील वर्ण की इस चिद् ज्योति को साधक व्यवहार दशा में भी सर्वत्र देखता है। अब यह स्थायी रूप से उसके साथ रहती है और वह उसमें समूचे ब्रह्माण्ड का दर्शन करता है। उसे अब समझ में आता है कि वह सब ब्रह्ममय है।

साधना की इस अवस्था में बहुत से साधक यह समझने लगते हैं कि उन्हें चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो गयी है। ज्योतियों के प्रकटीकरण, प्रतीक-दर्शन, परम तत्त्व की झलक तथा सबसे बड़ा तत्त्व का दर्शन करने से हमें साक्षात्कार हो गया, वे ऐसा समझ बैठते हैं।

वस्तुतः इस तरह के साक्षात्कार परब्रह्म की झलक मात्र ही हैं। कुछ साधकों को केवल एक विशेष प्रकार के साक्षात्कारों का अनुभव होता है जबकि अन्य साधक दो अथवा इससे अधिक साक्षात्कारों का अनुभव करते हैं। तब भी उसकी साधना पूर्ण नहीं होती। साधक को सिद्धयोग की इस साधना को पूर्ण करने में तीन, छह, नौ अथवा बारह वर्ष लग जाते हैं। मैं दावा नहीं करता कि मैंने यह साधना तीन वर्ष में पूर्ण की। मुझे अपनी साधना पूरी करने में नौ वर्ष लगे।

चरम-प्राप्ति तो तभी होती है जब नील बिन्दु साधक की दृष्टि में स्थिर होने लगता

है। आरम्भ में यह अस्थिर रहता है। यह प्रकट होता है, कुछ देर चमकता है और फिर अकस्मात् ही अदृश्य हो जाता है। ऐसा होना चित्त की चंचलता का द्योतक है।

चरम सिद्ध

साधना में और आगे बढ़ने पर एक स्वर्ण रंग का कमल 'सू ' आवाज करता सिद्धलोक से आता हुआ साधक के सिर पर गिरता है। साधक इसके गिरने की आवाज सुनता है और सिर में इसके स्पर्श को महसूस करता है। तब यह कमल सिर से नीचे गिर पड़ता है, किन्तु साधक उसे देखे या दिखाये, उसके पहले ही अदृश्य हो जाता है। यह मैं अपने अनुभव से कह रहा हूँ।

इसके पश्चात् नील बिन्दु स्थिर रहता है। साधक भी स्थिर और शान्त होकर नील बिन्दु को देखता रहता है। उसकी अन्तर्शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ने लगती है। उसे सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, और उसका शरीर बहुत कृश हो जाता है।

नील बिन्दु के स्थिर तथा अचल होने के बाद उसका तेज बढ़ने लगता है। बढ़ते-बढ़ते वह चारों ओर प्रसर जाता है और सारे विश्व ब्रह्माण्ड को घेर लेता है। अब इस तेज में साधक को अपने गुरु अथवा इष्टदेव के दर्शन होते हैं। पश्चात् साधक स्वयं गुरु अथवा इष्टदेव से तदाकार हो जाता है तथा ईश्वर, गुरु और स्वयं एक ही है। ऐसी अनुभूति करता है। वस्तुतः यही शुद्ध अद्वैत है।

वह व्यापक नील तेज छोटा होते-होते पुनः नील बिन्दु के रूप में आ जाता है। साधक इस नील बिन्दु में जो कुछ भी देखना अथवा जानना चाहे देख-जान सकता है। वस्तुतः यही दिव्य साक्षात्कार है जिसे पाकर व्यक्ति उन्मनी दशा को प्राप्त करता है। तभी उसे यह जगत् मिथ्या और स्वप्नवत् प्रतीत होता है। उसे यह बोध भी होता है कि वह जगत् से भिन्न है और जगत्मय भी है।

इसके बाद संसार में करने के लिए उसके पास कुछ नहीं रह जाता। वह कर्तव्य कर्म की भावना से परे हो जाता है। उसके लिए केवल प्रारब्ध भोगना ही शेष रह जाता है। इस तरह जीवन मुक्त बनकर लोक के कल्याण तथा आध्यात्मिक उन्नयन के लिए वह अपने जीवन के शेष वर्षों को बिताता है।

★ भगवान को अपने साथ रखकर जीवन बिताने में जो सुख होता है उसकी तुलना भला किस चीज के साथ हो सकती है। किन्तु मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि ध्यान का लक्ष्य ही हो। सुख की आशा या प्रतीक्षा में ध्यान या भक्ति अनुचित है। दीक्षा-प्राप्त संन्यासी या जन-साधारण दोनों के लिए यह शक्य है। सदा प्रभु को ध्यान में रखकर जीवन बिताना सबके लिए ही सरल है। —संत लारेन्स

पत्रं पुष्पं फलं तोयम्

(चाणक्य नीति से)

नास्ति मेघसमं तोयं नास्ति चात्मसमं बलम् ।
नास्ति चक्षुसमं तेजो नास्ति चान्नसमं प्रियम् ॥

मेघ के जल के समान उत्तम दूसरा जल नहीं, अपने बल के समान दूसरे का बल नहीं होता है। नेत्र के समान दूसरा तेज नहीं और अन्न के समान दूसरी वस्तु प्रिय नहीं होती है।

× × ×

अधमा धनमिच्छन्ति वाचं चैव चतुष्पदः ।
मानवाः स्वर्गमिच्छन्ति मोक्षमिच्छन्तिदेवता ॥

निर्धन धन चाहते हैं, पशु वाणी, मनुष्य स्वर्ग चाहते हैं और देवता मुक्ति की इच्छा करते हैं।

× × ×

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः ।
सत्येन वाति वायुश्चा सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

सत्य में पृथ्वी स्थित है और सत्य ही से सूर्य तपता है सत्य के बल पर वायु बहती है। सब कुछ सत्य ही पर स्थिर है।

× × ×

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणश्चले जीवितमन्दिरे ।
चलाचले च संसारे धर्म एको ही निश्चलः ॥

लक्ष्मी चंचल है। प्राण जीवन और घर ये सब ही चंचल हैं यह निश्चय है कि इस अचल संसार में केवल धर्म ही अचल निश्चल है।

× × ×

ऋणकर्ता पिता शत्रु माता च व्यभिचारिणी ।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रु न पण्डितः ॥

ऋण लेने वाला पिता, व्यभिचारिणी माता, सुन्दर स्त्री और मूर्ख पुत्र मनुष्य के दुश्मन हैं।

× × ×

वरं न राज्यं न कुराजराज्यं, वरं न मित्रं न कुमित्र मित्रम ।
वरं न शिष्यो न कुशिष्यः शिष्यो, वरं न दारा कुदारदाराः ॥

राजा न हो तो अच्छा परन्तु बुरा राजा होना अच्छा नहीं, मित्र न हो तो अच्छा पर कुमित्र होना अच्छा नहीं, शिष्य न हो तो अच्छा निन्दित शिष्य अच्छा नहीं, स्त्री न रहे यह अच्छा पर बुरी स्त्री होना अच्छा नहीं है।

× × ×

अर्थनाशं मनस्तापं गृहिणी चरितानी च ।
नीच वाक्यं चापमानं मतिमान्न प्रकाशयेत ॥

धन के नाश, मन के सन्ताप, स्त्री के चरित्र, नीच के वचन और अपने अपमान को बुद्धिमान प्रकाशित न करें।

× × ×

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहेणषु च ।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत ॥

धन और अन्न के लेन देन में विद्या के संग्रह में, आहार और व्यवहार करने में जो मनुष्य लज्जा नहीं करता वही सुखी होता है।

× × ×

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तिरेव च ।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम ॥

मनुष्य को सन्तोष रूपी अमृत से जो सुख शांति प्राप्त होती है, वह सुख या शांति धन के लोभियों को जो इधर उधर दौड़ते फिरते हैं कदापि नहीं मिल सकती हैं।

× × ×

सन्तोषः त्रिषु कर्त्तव्यः स्वदारे भोजन धने ।
त्रिषु चैव न कर्त्तव्याध्ययने जपदानयो ॥

अपनी स्त्री, भोजन और धन इन तीनों में सन्तोष करना चाहिए, इसी प्रकार पढ़ना, तप और दान इन तीनों में सन्तोष कभी नहीं करना चाहिए।

सुलेखकों एवं गुरु भाई-बहनों से :–

जैसा कि हमने 'सिद्धयोग' के पिछले अंक में निवेदन किया था कि सिद्धयोग का नये-वर्ष का विशेषांक परम-पूज्य गुरुदेव जी के लीला-चरित्रों एवं उनके सम्पर्क में आये सभी गुरु भाई-बहनों एवं विशिष्टजनों पर किये गये कृपा-प्रसादों का रोचक एवं प्रेरणाप्रद वर्णन रहेगा। गुरुदेव जी के योग-प्रचार क्षेत्र में आने वाले सभी नगरों व उपनगरों में रहने वाले गुरु भाई-बहनों से एवं उन सबसे जो श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई सिद्धपीठ से जुड़े रहे हैं—हमारा साग्रह निवेदन है कि वे अपने पर हुए कृपा-प्रसादों का वर्णन हमें लिख भेजने की कृपा करें। साथ ही श्री गुरुदेव जी का कोई चित्र सामूहिक या व्यक्तिगत रूपेण आपके साथ लिया गया हो तो उसे भी अपने संस्मरण के साथ भेजने की कृपा करें। 'अपने-अपने ध्यानानुभव' जैसा उपयोगी शीर्षक भी विशेषांक में रहेगा। जो भाई-बहन अपने ध्यानानुभव लिखकर भेजें, वे अपना एक ब्लैक एण्ड व्हाइट—पासपोर्ट साइज का चित्र भी भेजें, ताकि यथा-स्थान उसका उपयोग भी किया जा सके।

अपने विद्वान् लेखक बन्धुओं से भी हमारा निवेदन है कि वे लेख के साथ अपना एक पासपोर्ट साइज का चित्र भी भेजकर हमें आभारी करें ताकि उसे हम आपके लेख के साथ छाप सकें। गुरुदेवजी के साथ लिया गया चित्र यदि हो तो उसे अवश्य भेजें। यह विशेषांक की अपनी विशेषता रहेगी।

इस अंक के लिए आपके प्रेरक लेख, संस्मरण एवं रचनायें—हमें 15 मार्च 1994 तक मिल जाना सुविधाजनक रहेगा।

—प्रकाशक

सिद्धयोग के आजीवन सदस्य

श्री भुवनेन्द्र जी झा ने सूचित किया है कि 'सिद्धयोग' के सुचारु संचालन के लिए आजीवन सदस्य बनाने का जो अभियान कतिपय गुरु भाइयों एवं सहयोगियों का सहयोग लेकर चलाया गया था उसके अन्तर्गत अब तक निम्नलिखित सदस्यों से उनका आजीवन शुल्क 551 रुपया सधन्यवाद प्राप्त हो चुका है, इसे स्थाई-कोष में जमा कराया गया है। आशा है अन्य धनी-मानी भाई-बहन भी इस शृंखला में आजीवन सदस्य बनकर अपना कृपापूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे।

—व्यवस्थापक

1. श्रीमती सुशीला कुकरेजा (झांसी)
2. श्री ब्रजनन्दन तिवारी (झांसी)
3. श्री दामोदर प्रसाद ओटवानी (झांसी)
4. श्री एस० के० बस्सी (गुड़गांव)
5. श्री मा० गजराजसिंह मंगटा (कानपुर)
6. श्री आत्मा प्रसाद सिंह (वाराणसी)
7. श्री केशव उपाध्याय (वाराणसी)
8. श्री श्यामप्रसाद (भोपाल)
9. श्री विन्ध्यवासिनी सिंह (वाराणसी)

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008, JANUARY, 1994

प्रेषक कार्यालय :—

सि|द्ध|यो|ग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ____________________

प्राणायाम से लाभ

दह्यन्ते ध्माय मानानां धातूनां हि यथामलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ —मनु–6/71

अर्थात्

जैसे अग्नि में, धोंके हुए स्वर्णादि धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणों के रोकने यानी प्राणायाम का नित्य अभ्यास करने से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं। मनुष्य के भीतर जो सत्त्वगुण है उस पर तमस् और रजस् का परदा पड़कर उसे ढाँप दिया करता है जिससे मनुष्य में अनेक दोष आ जाते हैं परन्तु प्राणायाम के अभ्यास से रजस् और तमस् गुणों का ह्रास होकर सत्त्व की वृद्धि होती है और मनुष्य उन दोषों से मुक्त हो जाता है। इसीलिये योग-दर्शन में प्राणायाम करना अनिवार्य बताया है।

—योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्रकाशक एवं मुद्रक–देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई काजी, शाहगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) से प्रकाशित। फोन: 360426